ला० ज्ञानचन्द आर्य

जन्म म० १२ वैसाख १९७३ वि०

समर्पण

यह पुस्तक इस युग के
अपूर्व सुधारक, वेदों के अद्वितीय
पण्डित, आर्यसमाज के प्रवर्तक,
ऋषिवर यती दयानन्द
की शिक्षा का ही फल है,
अतएव मैं इस पुस्तक को उन्हीं
की पुण्य स्मृति में समर्पण
करता हूँ।

ला० ज्ञानचंद आर्य

जन्म स० १० दिसम्बर १९०३ ई०

समर्पण

यह पुस्तक इस युग के
अपूर्व सुधारक, वेदों के अद्वितीय
पण्डित, आर्यसमाज के प्रवर्तक,
ऋषिवर यती दयानन्द
की शिक्षा का ही फल है,
अत एव मैं इस पुस्तक को उन्हीं
की पुण्य स्मृति में समर्पण
करता हूँ।

कृतज्ञता

मैं पूज्यवर दिवंगत श्री महात्मा नारायण स्वामी जी का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होंने प्रकाशित होने से पूर्व इस पुस्तक को पढ़ कर इसकी भूमिका लिखी है और अपने पौत्र विजयकुमार बी० ए० (आनर्ज-संस्कृत) का भी आभारी हूँ जिसने इस पुस्तक के प्रूफ आदि देखने में मेरी सहायता की है।

विषय-सूची

संख्या	विषय	पृष्ठ
१.	वर्ण-व्यवस्था का वैदिक रूप	१
२.	वर्णों का क्रियात्मक निर्माण ..	२९
३.	कार्य्य और आजीविका ...	३९
४.	वैदिक वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य	६२
५.	वेद में शूद्र के अधिकार तथा स्थिति ...	६३
६.	वेद का शूद्र आर्य और स्मृतियों का शूद्र दस्यु है	६९
७.	शूद्र अछूत नहीं है	८०
८.	शूद्रों के घरों का अन्न भी भक्ष्य था	८३
९.	आर्यों ने बाहिर से आकर आदिनिवासी कहे जाने वालों को अछूत नहीं बनाया	९३
१०.	शिल्पी पेशे भी अछूत होने के कारण नहीं हैं	१३२
११.	छूत अछूत का कारण	१३४
१२.	वेद का शूद्र मूर्ख नहीं है	१३६
१३.	वेद का शूद्र नीच भी नहीं है	१४५

१४ शिल्पी और कठिन काम करने से भी आर्यत्व नष्ट नहीं होता १४८
१५ वैदिक वर्ण-व्यवस्था जन्ममूलक नहीं है १६७
१६. वैदिक वर्ण-व्यवस्था आचारमूलक भी नहीं है १७७
१७. वर्णों को आचार सिद्ध मानने का कारण १८७
१८ वैदिक वर्ण व्यवस्था कार्यमूलक है १८६

ओ३म्

भूमिका

शतपथ ब्राह्मण में, पितृऋण, देवऋण और ऋषिऋण के सिवा, एक चौथे मनुष्यऋण की बात कही गई है। शतपथकार का अभिप्राय इस ऋण से यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने भोजन वस्त्र आदि कार्यों के लिये अन्यों की सहायता का मुहताज है। अन्य व्यक्तियों की सहायता ही से उसकी जरूरतें पूरी हुआ करती हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अन्यों का ऋणी है और यह ऋण उसे अन्य ऋणों की भांति चुकाना चाहिये। उस ऋण का चुकाने ही की गरज़ से आश्रम बनाये गये हैं। आश्रमों के उद्देश्यों से यह बात भली भांति प्रकट होती है। आश्रम के उद्देश्यों पर इसलिये एक निगाह डालनी चाहिये; आश्रम चार हैं और उनके उद्देश्य इस प्रकार हैं :—

(क) ब्रह्मचर्याश्रम —इस आश्रम में रहकर मनुष्य शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति करते हुये अपने को अच्छा

गृहस्थाश्रमी बनाने का यत्न करता है, और गृहस्थ आश्रम वाले उसका पोषण करते हैं, वानप्रस्थ उसको शिक्षा तथा सन्यासी उसे उपदेश देते रहते हैं।

(ख) गृहस्थाश्रम—इस आश्रम वाले अपने सिवा तीनों आश्रम वालों का पोषण करते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम गृहस्थ का काम सुचारु रीति से चलाने के लिए गृहस्थाश्रम को तैयार करके अच्छे व्यक्ति दिया करता है। वानप्रस्थ उसकी सन्तान को मुफ्त शिक्षा देता है और सन्यासी उपदेश द्वारा उसकी रक्षा करता है।

(ग) वानप्रस्थ—इस आश्रम वाला सभी को शिक्षा और दीक्षा देते हुये अपने को सन्यास ग्रहण के योग्य बनाता है।

(घ) सन्यासाश्रम—इस आश्रम वाले, आत्मिक उन्नति करते हुए बाकी सभी आश्रम वालों को, अपने अपने आश्रमों का काम तत्परता के साथ करने के लिये तैयार करते रहते हैं।

आश्रम के इन उद्देश्यों पर दृष्टिपात करने ही से स्पष्ट हो जाता है कि ये चारों आश्रम एक दूसरे की सहायता ही के उद्देश्य से निर्मित हुये हैं।

(२) गृहस्थाश्रम वालों के जिम्मे, समस्त आश्रम वालों का पालन और पोषण है, इसके लिये उन्हें धन की जरूरत होती है। इस धन की जरूरत को पूरा करने के लिये वर्णों का निर्माण किया गया है। वर्ण भी चार हैं। उनके कर्तव्यों पर विचार करने से प्रकट हो जायगा कि वे, धन की जरूरत पूरा करने के लिये धन कमाने के व्यवसाय मात्र हैं। उनके कर्तव्य इस प्रकार हैं —

वर्ण	लोक-संबंधी काम	परलोक-संबंधी काम
(१) ब्राह्मण	अध्यापन, यज्ञ कराना, दान लेना	अध्ययन, यज्ञ करना, दान देना
(२) क्षत्रिय	शासन और फौजी विभाग की सेवा	"
(३) वैश्य	कृषि, व्यापार, पशु पालन तथा अन्य कला-कौशल	"
(४) शूद्र	प्रत्येक व्यवसाय का श्रम-संबंधी कार्य	"

इन कर्त्तव्यों पर विचार करने से प्रकट हो जाता है कि परलोक को अच्छा बनाने के काम मनुष्यमात्र के एक ही हैं उनमें कोई भेद नहीं। लोक में जीविका उपलब्ध करने के पेशे, इन चार श्रेणियों में विभक्त किये गये हैं जिन्हें वर्ण कहते हैं। जितने भी पेशे विद्या से सम्बंधित हैं, जैसे वैद्यक, इंजीनियरिंग, वकालत, ज्योतिष आदि ये सब ब्राह्मणवर्ण के अन्तर्गत समझे जाते हैं। और जितने भी राज्यसंबंधी कार्य हो सकते हैं चाहे वे शासन विभाग (Civil) से संबंधित हों चाहे सेना विभाग (Military) से, वे सब क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत माने जाते हैं। और जितने काम, व्यापार, कला कौशल और कृषि आदि से संबंधित होते हैं, वे सब वैश्य वर्ण के अन्तर्गत स्वीकार किये

जाते हैं ; और श्रम श्रेणी के सभी कार्य शूद्र वर्ण के अन्तर्गत होते हैं।

(३) वर्णों के संबंध में कुछ बातें ध्यान मे रखने योग्य हैं जिनके ध्यान में न रखने से हिन्दू समाज का बड़ा अनिष्ट हुआ है .—

(क) इन वर्णों में प्रत्येक वर्ण वाला, अपने पेशे के काम में विशेषज्ञ हुआ करता है, इसलिये उनमें छुटाई बड़ाई का प्रश्न नहीं उठ सकता। भेद दो प्रकार के हुआ करते हैं एक श्रेणी (Kind) का भेद दूसरा दर्जा (Degree) का भेद। जिन वस्तुओं मे श्रेणी का भेद होता है उनमें दरजो का भेद नहीं हुआ करता और न हो सकता है अर्थात् यह नहीं कह सकते हैं कि यह घोडा इस मेज से अच्छा है न यह कहा जा सकता है कि यह मेज इस घोडे से अच्छी है। हां, दस घोड़ों मे यह कहा जा सकता है कि अमुक घोडा अन्यों से अच्छा है। इसी प्रकार १० मेजों मे भी यह बात कही जा सकती है कि अमुक मेज अन्यों से अच्छी है, इसलिये कि १० घोडे और १० मेजें दोनों पृथक् पृथक एक एक श्रेणी की चीजें हैं इसी प्रकार यह वर्ण भी भिन्न भिन्न श्रेणी के समूह हैं इनमें भी दरजों का भेद नहीं हो सकता अर्थात् यह नहीं कह सकते कि ब्राह्मण क्षत्रिय से ऊंचा है या शूद्र वैश्य से ऊंचा है इत्यादि।

(ख) वर्ण का प्रारंभ ब्रह्मचर्य आश्रम के समाप्त होने के बाद हुआ करता है और मानव धर्मशास्त्र के अनुसार उसी समय

किसी व्यक्ति की रुचि का भी पता चला करता है कि वह किस पेशे से धन कमाने की रुचि रखता है अर्थात् अध्यापन करके धन कमाना चाहता है या राज्य-संबंधी काम करके या अन्य कोई व्यवसाय करके। उसी के अनुकूल उसका वर्ण हो जाता है। इसलिये इन वर्णों का जन्म से न कोई संबंध है और न हो सकता है!

(ग) इस आश्रम या वर्ण-व्यवस्था में अमीरों और गरीबों के झगड़े का भी कोई प्रश्न नहीं उठ सकता इसलिये कि इनमें रहकर कोई मौरूसी अमीर नहीं बनने पाता क्योंकि प्रत्येक को प्रारंभ और अंत के दोनों आश्रमों, ब्रह्मचर्य और संन्यास, को गरीबी के साथ, व्यतीत करना पड़ता है, योरुप के श्रम और पूंजी (Lobour & Capital) के झगड़े भी इसीलिये यहां नहीं पैदा हो सकते।

(४) द्विज बनने के बाद ही मनुष्य आश्रम और वर्णों के अंदर प्रविष्ट हुआ करता है, इसलिये द्विज बनने की योग्यता का विवरण ऋग्वेद में इस प्रकार दिया गया है,—

> द्विजन्मानो य ऋतसापः सत्याः स्वर्वन्तः
> यजता अग्निजिह्वाः ॥ (ऋग्वेद ६।५०।२)

अर्थात्—द्विजन्मा होने के लिये नियमबद्धता, सत्यता, सुखमय, यज्ञ शील और तेजस्वी वाणी वाला होना आवश्यक है। ऐसा बनकर ही प्रत्येक व्यक्ति आश्रम और वर्ण की दुनिया में प्रविष्ट होकर सफल-मनोरथ हुआ करता है।

(४) पश्चिमी मस्तिष्क इस आश्रम और वर्ण-व्यवस्था का पोषक है। (क) डाक्टर रोबैक ने एक जगह स्प्रेंजर (Spranger) के हवाले से लिखा है कि मनुष्य जीवन के चार भाग (Four life forms) हैं :—

(१) गृहस्थ (The Economic) (२) ब्रह्मचर्याश्रम (The Theoritical) (३) वानप्रस्थ (The Artistic) तथा (४) संन्यासी (The Religious) (The Psychology of character by Dr. A.A. Roback p. 323)

(ख) Ruskin रस्किन ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Unto Last में लिखा है:—The five Great intellectual professions relating to daily necessities of life have hitherto existed in every civilized nation :—

I. The Soldiers to defend it.

II. The Pastors to teach it.

III. The Physicians to keep it in health.

IV. The Lawyers to inforce justice in it.

V. The merchants to provide for it.

अर्थात्—जान रस्किन की सम्मति में जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रत्येक सभ्य जाति में, पांच (वैदिक) व्यवसाय प्रचलित हैं :—

(१) क्षत्रिय, राष्ट्र की रक्षा के लिये

(२) ब्राह्मण, राष्ट्र को शिक्षा देने के लिये।

(३) वैद्य, राष्ट्र को स्वस्थ रखने के लिये।

(४) वकील, राष्ट्र का न्याय कराने के लिये।

(५) वैश्य जीवन सामिग्री प्रस्तुत करने के लिये।

इनमें से २, ३, ४ ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत ही माने जाते हैं। इस प्रकार वैदिक व्यवसाय ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों से संबंधित तीन ही हैं। चौथा शूद्र वर्ण श्रम से संबंधित है। रसकिन ने उपर्युक्त बौद्धिक व्यवसायों का इस प्रकार विवरण देते हुये एक बड़े महत्त्व की बात अंत में लिखी है कि उपर्युक्त व्यवसाय वालों के लिये मरने का आवश्यक अवसर (Due occasion of death) क्या है ? यदि सिपाही युद्ध से भाग जाय, ब्राह्मण झूठ सिखलाने लगे, वैद्य प्लेग से डर कर भाग जाय, यदि वकील न्याय में विघ्न डाले, यदि व्यापारी अपने व्यवसाय में झूठा हो तो उन्हें मर जाना चाहिये। रसकिन ने अपने इस लेख के इस प्रकरण को इस प्रसिद्ध उक्ति के साथ समाप्त किया है कि "जिस व्यक्ति को मरना नहीं आता उसे जीना भी नहीं आ सकता।" (The man who does not know how to die, does not know how to live. (Luc. cit. p 37 & 38)

इस ग्रन्थ में, जिस का यह प्रारम्भिक कथन है, उपर्युक्त वर्णों के सम्बन्ध में, प्रायः सभी उपयोगी बातों का उल्लेख किया गया है। और प्रत्येक कथन की पुष्टि तर्क और प्रमाण दोनों से की गई है। ग्रन्थ के एक भाग में शूद्रों की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। ऋग्वेद की शिक्षानुसार मनुष्य जाति दो भागों में

विभिक्त की गई है:–(१) आर्य=अच्छा कर्म करने वाले, (२) दस्यु=अकर्मा और बुरे कर्मों को करने वाले। फिर आर्यों को, समाज के कार्यों की पूर्ति के विचार को लक्ष्य में रखते हुये, ४ वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभक्त किया गया है। यह कार्य-विभाजन मिलकर और बाँटकर काम करने के सुनहरी नियमानुकूल किया गया है जिसका इससे पहले पृष्ठों में उल्लेख हो चुका है। इस विवरण से शूद्र और दस्यु का अंतर असंदिग्ध रीति से प्रगट हो जाता है। परन्तु आर्यसमाज की स्थापना से कुछ पहले युग में, यह शूद्र और दस्यु पर्याय-वाचक हैं ऐसा समझा जाने लगा था। इसका परिणाम यह हुआ कि जो व्यवहार दस्युओं के साथ होना चाहिये था वह शूद्रों के साथ भी होने लगा। यह उस मूर्खता के युग का अत्याचार था जिसे पौराणिक युग भी नहीं कह सकते। ग्रंथकर्ता ने इस विषय को स्पष्ट करने के लिये वैदिक शूद्र और पौराणिक शूद्र में भेद किया है। वैदिक शूद्र आर्य है और सभी लोक व्यवहार में आर्यों का सा उस के साथ व्यवहार हुआ करता था, श्रीरामचन्द्र के अश्वमेध यज्ञ में, जहां हम उसे यज्ञ के अतिथियों की भोजनशाला का इन्चार्ज देखते हैं और जहाँ हम उस शाला में भोजन बनाते, अतिथियों को भोजन कराते तथा उनमें से कुछ को, उन अतिथियों के साथ भोजन करता हुआ पाते हैं, वहां दूसरी ओर युधिष्टिर के राजसूय यज्ञ मे भी, उस वैदिक शूद्र-समुदाय को, यही सब कृत्य करते हुए देखा जाता है परन्तु पौराणिक शूद्र,

इस वैदिक शूद्र से भिन्न है और ग्रन्थकर्ता के अनुसार वह पौराणिक शूद्र वैदिक दस्यु है, वैदिक शूद्र नहीं। यह वैदिक दस्यु पौराणिक शूद्र कैसे बना, इसका भी हेतु इस ग्रंथ मे मिलता है, वह यह कि उन दस्युओं को आर्य=श्रेष्ठ बनाने और उनमे बुराइयां का छुड़ाने के उद्देश्य से उन्हें शूद्र के श्रम कार्यों में से कुछ बढ़ई लुहार आदि के कार्य करने के लिये दिये गये और वे ऐसा करने भी लगे इसका होते-होते परिणाम यह हुआ कि वे भी शूद्र कहे जाने लगे। परन्तु उनके साथ, दस्युओं के साथ किये जाने का जो व्यवहार था, उसमें तब्दीली नहीं की गई, वह व्यवहार ज्यों का त्यों बना रहा। इसलिए वे शूद्र तो बने परन्तु अपने से घृणा दूर नहीं करा सके, बल्कि अपने साथ वैदिक शूद्रों को भी ले बैठे और दोनों एक कोटि में गिने और माने जाने लगे।

ग्रंथ पर एक दृष्टि डालने से ही स्पष्ट प्रगट होने लगता है कि वह अत्यन्त परिश्रम और सावधानी से लिखा गया है और विषय से सम्बन्धित उसमे प्राय कोई बात नहीं छूटने पाई है। अधिक से अधिक उसका प्रचार होगा यह मैं आशा करता हूँ।

६-६-४५

—नारायण स्वामी

पाठकों से

प्रिय पाठक,

मैंने इस पुस्तक में वेद के अतिरिक्त स्मृति, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थों के भी अनेक वाक्य प्रमाण में उद्धृत किये हैं, परन्तु उक्त ग्रन्थों में उनके विरोधी वाक्य भी मिलते हैं। इसलिए यह शङ्का हो सकती है कि जो वाक्य मैंने प्रमाण रूप से उद्धृत किए हैं उन्हें ही प्रामाणिक क्यों माना जाए। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि स्मृति आदि ग्रन्थों में भी वेद को ही परम प्रमाण माना है (मनु० २। १३)। इसलिए स्मृति आदि ग्रन्थों के जो प्रमाण वेदानुकूल हैं, मैंने प्रमाण में उनको ही उद्धृत किया है।

इसके अतिरिक्त किसी ग्रन्थ के दोनों प्रकार के, अथवा परस्पर विरोधी वाक्य प्रामाणिक हो भी नहीं सकते। उनमें से वही वाक्य प्रामाणिक हो सकते हैं जो वेद तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के अनुकूल हों।

यह बात सत्य है कि वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के साथ कहीं पर भी वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ; परन्तु यह बात भी ऋषिसम्मत और वेद-अविरुद्ध है कि आर्य-साहित्य में ब्राह्मण आदि चतुर्विभाग के साथ जो वर्ण शब्द का प्रयोग हुआ है वह भी सार्थक ही है; क्योंकि यजुर्वेद ३०।५ जिनमें लौकिक-

व्यवहारों तथा आजीविका की सिद्धि के लिए आर्यों की चार व्यवसायिक श्रेणियों (Professional) के बनाने का आदेश किया गया है इसलिए उनके साथ लगा हुआ वर्ण शब्द भी उसी अर्थ (पेशा) का द्योतक होने से बिलकुल सार्थक है। यदि इस स्थान पर वर्ण शब्द के अर्थ इसके विपरीत करेंगे तो वे वेदसंगत नहीं होंगे। अतः मैंने भी इन पृष्ठों में ब्राह्मण आदि चारों श्रेणियों के साथ जो वर्ण शब्द प्रयुक्त किया है वह भी उक्त अर्थ में ही किया है। पाठक महोदय इसको स्मरण रखें।

मैंने इस पुस्तक में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की अपेक्षा शूद्र वर्ण की वैदिक स्थिति (Position) को दर्शाने पर अधिक बल दिया है; क्योंकि आजकल शूद्र की ही स्थिति भ्रमात्मक बनी हुई है, जिससे भारत के सामाजिक संगठन में बहुत से दोष उत्पन्न हो गये हैं। आशा है कि पाठक महोदय सत्य ग्राही बन कर इसका अध्ययन करेंगे।

मैंने इस पुस्तक में वर्ण-व्यवस्था का वास्तविक रूप और उसका उद्देश्य वेद आदि शास्त्रों तथा ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर रखा है। यह इसलिए नहीं कि, वह बुद्धि-सम्मत नहीं केवल विश्वासात्मक हैं और वेद आदि शास्त्रों के मानने वाले आँखें बन्द करके इसको मानलें, अपितु भारत में वर्ण-व्यवस्था तथा जात पात का जो जन्मसिद्धि विकृत रूप इस समय माना जाता है उसको वेद आदि शास्त्रविरुद्ध मिथ्या सिद्ध करने के लिए। क्योंकि वर्ण-व्यवस्था को मानने वाले भाई अपनी जन्म-

सिद्ध भ्रांत वर्ण व्यवस्था को भी शास्त्र अनुकूल समझते हैं । अतः उनकी भ्रांति दूर करने के लिए आवश्यक था कि वर्ण व्यवस्था का वास्तविक रूप वर्णन करने वाले वेद आदि शास्त्रों के प्रमाण उनके सामने रखे जाएँ ।

ज्ञान की क्रमशः उन्नति मानने वाले कुछ सज्जन ऐसे भी हैं जिनका वेद आदि शास्त्रों को पढ़े बिना ही यह विश्वास है कि वेद आदि सभी प्राचीन ग्रन्थ भ्रमात्मक हैं। भारत की मिथ्या जात पात और छूताछूत उन्हीं की फैलाई हुई है क्योंकि वह ऐसे समय के बने हुए हैं जबकि मानव-ज्ञान आरम्भिक अवस्था में था। परन्तु ऐसा समझना उनकी भूल है क्योंकि यह सर्वतन्त्र-मत है, कि वेद संसार के पुस्तकालय में सबसे पुरानी पुस्तकें हैं वह मानव जाति की अमूल्य सम्पत्ति । उनके सदृश संसार में कोई पुस्तक नहीं मिलती। उनकी भाषा परिष्कृत है। कवितामय और व्याकरण के अनुकूल है बल्कि व्याकरण का भी स्रोत हैं उनमें एक ईश्वरवाद, ज्योतिष, विज्ञान आदि सत्य विद्याओं का मौलिक वर्णन है। सृष्टि आरम्भ में मनुष्यों को व्यवहारिक ज्ञान और जबान की शिक्षा उन्हीं से मिली है, इत्यादि विशेषताओं को समक्ष रखते हुए ही मैं आर्य लोग उन्हें अपौरुषेय मानते हैं। ब्रह्म विद्या के भण्डार उपनिषदों तथा बाल की खाल उतारने वाले न्याय आदि दर्शनों के कर्त्ता ऋषि मुनि भी उन्हें अपौरुषेय और परम प्रमाण मानते हैं, क्योंकि मानवीय सृष्टि के आरम्भ में (जिसको विकासवादी अविकसित काल मानते हैं,) ऐसी अनुपम पुस्तकों को

बनाने वाला उस समय का कोई अनुन्नत मनुष्य नहीं हो सकता। उनको श्रुति भी इसीलिए कहते हैं कि उनको मनुष्यों ने सुना ही है किसी ने बनाया नहीं, अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में देव ऋषियों (अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा) नेउन्हें सर्वव्यापक ईश्वर से अपने अंतःकरण में सुना, फिर उनसे श्रुत ऋषियों और उनसे दूसरे मनुष्यों ने सुना। वेदों को किसी स्थान पर भी स्मृति नहीं कहा गया अतः वह श्रुति ही हैं स्मृति नहीं। आर्य लोग ही वेदोंको परम प्रमाण नहीं मानतें बल्कि वेदों को अपौरुषेय न मानने वाले यूरोपियन ऐतिहासिक और उनके भारतीय अनुचर भी प्रायः विशेषकर ऋग्वेद को परम प्रमाण मानते हैं; क्योंकि प्राग् इतिहास-काल की वेद ही ऐसी पुस्तकें हैं जिनसे सृष्टि आरम्भ अथवा अत्यन्त प्राचीन काल के ऐतिहासिक वर्णन (उनके मत अनुसार) मिलते हैं।

मैंने वेदों से सिद्धान्तात्मक तथा तदनुकूल आर्य. साहित्य के ऐतिहासिक प्रमाणों से मानव-जाति के कार्यमूलक चतुर्विभाग का वास्तविक स्वरूप दिखलाने का इसलिए भी यत्न किया है कि यह विषय केवल तर्क से सिद्ध होने वाला नहीं बल्कि, मानव सृष्टि के आरम्भ में आविर्भूत हुए वेदों तथा प्राचीन काल में बने हुए आर्य साहित्य मे ही उसका यथार्थ वर्णन मिल सकता था। क्योंकि उस समय मत-मतान्तरों का जन्म नहीं हुआ था जिनके द्वारा संसार मे अर्थवाद और अंधविश्वास फैला है और वर्ण व्यवस्था का विकृत रूप भी संसार के सामने नहीं आया था।

अत आशा है कि इस पुस्तक में दिए गए वेद आदि शास्त्रों के बुद्धिसम्मत प्रमाण उन सज्जनों के इस काल्पनिक विश्वास को भी दूर करने का कारण हो सकेंगे कि वेद अनुनत काल के बने हुए हैं और आधुनिक जात पात और छूआछूत भी उनसे ही फैली है।

प्राक्कथन

वैदिक वर्ण-व्यवस्था समाज-निर्माण-पद्धति के अन्तर्गत एक क्रियात्मक मुख्य सामाजिक आयोजना है। जिसका उद्देश्य है—(क) मानव जगत् के लौकिक व्यवहारों की सिद्धि के लिये मनुष्यों का परस्पर सहयोगी बनकर भिन्न २ कामों को बांट कर करना (Division of Labour) (ख) योग्य अथवा सुशिक्षित (Trained) मनुष्यों के हाथ से कार्य कराना (ग) सब मनुष्यों को काम पर लगाना तथा (घ) उनकी आजीविका का प्रबन्ध करना। ये चारों बातें मानव समाज की लौकिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये कितनी आवश्यक हैं, उसको समाज निर्माण पद्धति के विद्वान् भली प्रकार जानते हैं। अर्थात् उन्हें यह बात अच्छी तरह मालूम है कि मनुष्य को मनुष्योचित जीवन व्यतीत करने के लिये जितनी वस्तुओं तथा उनकी प्राप्ति के हेतु कार्यों के करने की कितनी आवश्यकता है। उन सबको कोई अकेला मनुष्य नहीं कर सकता। इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन निर्वाह के लिये दूसरों की सहायता का मोहताज है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति परस्पर के सहयोग तथा सहायता के बिना, न तो मनुष्योचित जीवन व्यतीत कर सकता है और न ही यथोचित उन्नति कर सकता है इसलिये अनिवार्य है कि यह वेद प्रदर्शित (ऋ० १०-६०-१२) उपमा अर्थात् मनुष्य के मुख,

बाहू आदि अंगों की भाँति परस्पर सहयोगी बन कर भिन्न २ कामों को बाँट कर करें और सुशिक्षित अर्थात् अपने २ व्यवसाय (Professicn) की शिक्षा प्राप्त करके करें। क्योंकि मूर्ख आदमी किसी भी कार्य को अच्छी तरह नहीं कर सकते। और समाज-निर्माण सिद्धान्त के अनुसार यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि सब मनुष्यों को काम मिले तथा सब मनुष्य अपनी २ योग्यता के अनुसार कार्य करें और कोई भी बेकार न रहे और जिन कार्यों को वह करें वही कार्य उनकी आजीविका का साधन हों। क्योंकि जो कार्य मनुष्य की आजीविका का साधन होते हैं, मनुष्य बिना किसी प्रेरणा के अत्यन्त तत्परता और लगन से उन कार्यों के करने में लगे रहते हैं तथा मानव-समाज की आवश्यकताओं को पूरा करनेवाले व्यवहार भी निःविघ्नतापूर्वक चलते रहते हैं।

समाज-शास्त्र के विद्वान् यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि मनुष्यों को काम का न मिलना अथवा मनुष्यों का बेकार रहना मानव समाज के लिये अत्यन्त हानिकारक है; क्योंकि जिस प्रकार शरीर के जिस अंग से काम न लिया जावे वह बेकार होकर सारे शरीर के लिये दुःख का कारण बन जाता है इसी प्रकार जिन मनुष्यों को काम नहीं मिलता अथवा जो मनुष्य काम नहीं करते, उनकी आजीविका की सिद्धि भी नहीं होती। इसलिये वे अपने जीवन निर्वाह के लिये समाज पर बोझ बन जाते हैं — भीख माँगने, चोरी और लूटमार करते हैं। समाज निर्माण की जिस पद्धति में सब मनुष्यों को काम पर लगाने और उनकी

आजीविका प्राप्त करने का प्रबन्ध नहीं होता वह पद्धति अपूर्ण और दूषित है क्योंकि समाज का कर्तव्य है कि चोरों और डाकुओं से बचने अथवा दस्युओं को आर्य बनाने के लिये बेकारों को काम पर लगाने का प्रबन्ध करे। यजुर्वेद अध्याय ३० मंत्र ५ में उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ही ब्राह्म (Educational) क्षात्र (Civil and Military), वाणिज्य (Commerce), तथा श्रम (Labour) विभाग (Department) बना कर उनमें काम करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रियादि सुशिक्षित कार्यकर्ताओं (पेशावरों) के आयोजन की शिक्षा दी गयी है।

बृहदारण्यक प्रथम अध्याय चतुर्थ ब्राह्मण की ११-१२-१३ कण्डिकाओं में वर्णन है कि सृष्टि के आरम्भ में एक ही ब्राह्मण वर्ण था उससे लौकिक व्यवहारों की सिद्धि न हो सकी इसलिये उसने (अपने में से ही) क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण बनाये अर्थात् आदि सृष्टि के ब्राह्मणों (दिव्य मनुष्यों) ने लौकिक व्यवहार सिद्धि के लिये कामों को परस्पर बाँट लिया। अर्थात् जिन्होंने पढ़ाने और उपदेश करने का काम लिया वह ब्राह्मण जिन्होंने प्रबन्ध और रक्षा का काम लिया वह क्षत्रिय, जिन्होंने व्यापार का काम लिया वह वैश्य तथा जिन्होंने शिल्प-कारी आदि श्रम-विभाग का काम लिया वह शूद्र कहलाये।

महाभारत शान्तिपर्व मोक्ष धर्म अ० ४२ श्लोक १० तथा भागवत स्कन्ध ६ अ० १४ श्लोक ४ में भी लिखा है कि सृष्टि के आदि में एक ही वर्ण था

पश्चात् कार्यभेद से ब्राह्मणादि चारों वर्ण हुए। भविष्य महापुराण ब्राह्मपर्व अ० ४० में भी वर्णों को कृत्रिम और कार्यशक्ति के भेद से ही उनके भेद माने हैं परन्तु अत्यन्त खेद है कि वेद प्रदर्शित अत्यन्तोपयोगी समाज-निर्माण सम्बन्धी पूर्वोक्त उद्देश्यों को न जानकर अथवा भूलकर वर्णों को जन्म तथा आचारमूलक मानकर वर्ण व्यवस्था की अत्यन्त उपयोगी वैदिक आयोजना को निरर्थक ही नहीं बल्कि भयंकर बना दिया गया है। इसी जन्म तथा आचारमूलक वर्ण-व्यवस्था ने ही भारतीय समाज में आधुनिक जाँत पाँत, छूत-छात और नीच-ऊँच आदि बुराइयों को जन्म दिया है। जिनके कारण भारतीय समाज खण्ड २ हो गया है अर्थात् जो वर्ण व्यवस्था समाज निर्माण का अत्यन्त उपयोगी साधन थी वह सामाजिक संगठन की विनाशक बन गई है। जन्म और आचार भेद से आर्यों की ब्राह्मणादि श्रेणियों को क्रमशः उत्तम मध्यम, निकृष्ट और पतित मानना वैदिक-समाज निर्माण के नितान्त विरुद्ध है क्योंकि वेद में आचार भेद से मनुष्यों के आर्य और दस्यु दो ही भेद माने हैं और कार्य भेद से आर्यों के ब्राह्मणादि चार भेद किये हैं। ऋषि दयानन्दजी ने भी सत्यार्थ-प्रकाश समुल्लास ८ में ब्राह्मणादि चार भेद आर्यों के ही माने हैं और आर्य वह कहलाते हैं जो आचार सम्पन्न हों अतः जन्म तथा आचार भेद से चारों वर्णों का मानना वेद तथा ऋषि मत के विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त वेद मे मनुष्य मात्र के लिये एक ही प्रकार के मानवी धर्म अथवा आचार पद्धति का विधान किया गया है। ऋषि दयानन्द ने भी सत्यार्थ-प्रकाश ११वें समुल्लास में ब्राह्म-समाज के प्रकरण में मनुष्य मात्र का धर्म एक ही बताया है। मनुस्मृति अ० १० श्लोक ६३ में भी हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्र रहना और इन्द्रियों का निग्रह करना संक्षेप से चारों वर्णों का सामान्य धर्म लिखा है। महाभारत वनपर्व अध्याय १४६ श्लोक १८, १६, २० मे भी स्पष्ट लिखा है कि कृतयुग (वैदिक काल) में चारों वर्णों का ज्ञान और आचार एक समान थे। उनके संस्कार वैदिक विधि के अनुसार होते थे। (वर्ण) धर्म भिन्न-भिन्न होने पर भी वह सब एक ही वैदिक धर्म के मानने वाले थे। कूर्म पुराण अ० १० श्लोक २ में वर्णन है कि रेभ के वेद के विद्वानों मे श्रेष्ठ पुत्र शूद्र हुए अर्थात् वेदज्ञ होने पर भी उन्होंने आजीविका के लिये शूद्र वर्ण (पेशा) में स्वीकार किया।

पूर्वोक्त वर्णन में दिये गये प्रमाणों से निश्चित है कि भारत-वर्ष में इस समय जो जात-पात, छूआ-छूत, नीच-ऊँच और शूद्रों से घृणा पाई जाती है और जिसने न केवल यह कि आर्यों के सामाजिक संगठन को ही छिन्न-भिन्न कर दिया है बल्कि वैदिक-वर्ण-व्यवस्था को भी सभ्य संसार में बदनाम कर दिया है क्योंकि यह सब अवैदिक है। उसका मूल कारण जहाँ जन्म तथा आचार-मूलक मानकर वर्णव्यवस्था का मन्तव्य है वहां स्मृतियों, महाभारत और पुराणों में सत और असत दो प्रकार के शूद्र मानते हुए सत शूद्र (वैदिक शूद्र) को भी माना है और असत शूद्र अर्थात्

वैदिक दस्यु को भी शूद्र न लेने अथवा दस्यु और शूद्र को पर्यायवाची मान लेने की भी भूल की है। जैसा कि महाभारत शांतिपर्व अ० १८६ के श्लोक ७ में शूद्र उसको कहा गया है जोकि सर्वभक्षी, सब काम करने वाला, मलिन, वेदत्यागी और दुराचारी हो। शूद्र की यह परिभाषा मानना इसलिए भूल है क्योंकि वास्तव में यह परिभाषा वेद के शूद्र की नहीं किन्तु वेद के दस्यु की है। चारों वेदों में किसी स्थान पर भी शूद्र तथा दस्यु शब्द समानार्थक प्रयुक्त नहीं हुए (वेद के सब शब्द यौगिक हैं और शूद्र शब्द के यौगिक अर्थ हिंसक दस्यु के होही नहीं सकते) अपितु सब जगह ही भिन्न अर्थ में आये हैं अर्थात् चारों वेदों में दस्यु के विशेषण अकर्मा, अयज्वा, अमानुषः, अव्रतः, आदि हैं इसलिये सब स्थान पर ही चोर, डाकू और हिंसक दस्यु को ताड़न करने की शिक्षा दी गयीहै। परन्तु वेद में किसी स्थान पर भी शूद्र को उक्त दुर्गुणों वाला नहीं बतलाया गया और न ही उसको कहीं पर ताड़न करने का आदेश मिलता है। परन्तु सब जगह ही उसके साथ आर्योचित व्यवहार किया गया है जैसा कि यजु० १८।४८ तथा १६।६२ में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को माँति शूद्र को भी तेज देने तथा प्यारा बनाने की प्रार्थना की गयी है। यदि शूद्र उक्त दुर्गुणों वाला होता तो वेद में उसके लिये तेजस्वी और प्यारा बनाने की प्रार्थना न होती बल्कि दस्यु की तरह उसको भी ताड़ना करने की शिक्षा दी जाती।

स्मृतियों में जिस शूद्र का काम द्विजों की वैयक्तिक सेवा बतलाया है वह भी वेद का शूद्र नहीं बल्कि पुराणों का पूर्वोक्त

शूद्र अर्थात् वेद का दस्यु ही है। सेवा करनेवाले को दास कहना भी इस बात का प्रमाण है कि दस्यु को ही वैयक्तिक सेवा के काम पर लगाया गया क्योंकि वेद मे दस्यु और दास एक ही अर्थ में आये हैं जैसा कि ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८६ मंत्र १६ में कहा गया है। और दस्युओं को सेवा के काम पर लगाने का अभिप्राय भी उनका सुधार करना अथवा आर्य बनाने का ही था क्योंकि अकर्मा दस्यु को काम पर लगाने तथा आर्यों के सम्पर्क मे रहने से उसके दुर्गुण छूट कर उसके सुधार की सभावना हो सकती थी। वेद आदि शास्त्रों में तो क्या स्मृतियों, पुराणों, सूत्र ग्रंथों और महाभारत, रामायण आदि मे भी वैदिक शूद्रों के अतिरिक्त पौराणिक शूद्रों (वेद के दस्युओं को भी अछूत नहीं माना गया अपितु उनसे आर्यों का खान पान, विवाह आदि सामाजिक सम्बन्धी भी बराबर बना रहा है।

वर्ण जाति और राष्ट्र—वैदिक काल के पश्चात् जब स्मृतिकाल मे वर्ण को जन्ममूलक मान लिया गया तब जाति के जन्म सिद्ध होने के कारण वर्ण और जाति शब्द पर्यायवाची समझ लिए गए। अब आधुनिक साहित्य लेखकों ने भी राष्ट्र शब्द के स्थान पर जाति शब्द का प्रयोग करके राष्ट्र और जाति शब्द

(नोट—पाठकवृन्द! मैंने इस संक्षिप्त प्राक्कथन में जिन प्रमाणों का निर्देश किया है व अपने-अपने प्रकरण में उद्धृत किए जाएंगे, वहां देख लीजिए।)

को एक अर्थ वाला बना दिया है जिसके कारण भारतीय समाज में बहुत भ्रान्ति फैल गई है। अर्थात् जिसके कारण भारतीय और विदेशी लोग जहाँ ब्राह्मणादि चारों वर्णों को चार जातियां कहने और लिखने लग गये हैं, वहाँ वर्तमान समय की कल्पित वंशीय जातपात को भी वर्ण तथा जाति के भेद के साथ सम्मिलित कर दिया गया है जिससे भारतीय समाज खण्ड २ हो गया है। परन्तु वस्तुतः न तो वर्ण और जाति शब्द पर्यायवाची हैं और न जाति और राष्ट्र ही। न तो जाति, वर्ण की भांति कार्य मूलक ही है और न राष्ट्र की भांति वह देश विशेष की सीमा में ही बद्ध है। वर्ण शब्द का वर्णन इस पुस्तक के पृष्ठों में भली प्रकार कर दिया गया है, जिसे अत्यन्त संक्षेप से इस प्रकार कह सकते हैं—वर्णो वृणुते—अर्थात वर्ण का वरण किया जाता है (चुना जाता है) अथवा मनुष्य अपनी आजीविका के लिए जिस लौकिक व्यवहार सिद्धि के कार्य को स्वीकार करता है उसके अनुसार ही उसका वर्ण बनता है। जहाँ वर्ण व्यक्तिगत है, वहाँ वर्ण परवर्तित भी हो सकता है।

जाति का धातुज अर्थ उत्पत्ति अथवा जन्म है। न्याय शास्त्र मे जाति का लक्षण इस प्रकार किया गया है.—

'आकृतिजातिलिंगाख्या'

अर्थात्—जिन व्यक्तियों की आकृति (इन्द्रियादि) एक समान हो, उन सबकी एक जाति है। जैसे सब मनुष्य एक जाति, सब

घोड़े एक जाति और सब गाय एक जाति हैं। अतः यह जाति जन्म सिद्ध होने से परवर्तित नहीं हो सकती।

"सतिमूले तद्विपाका जात्यायुर्भोगाः"

योग दर्शन के भाष्यकार ऋषिवर व्यास देव जी ने भी सूत्र का भाष्य करते हुए जाति को आजीवन ही अपरिवर्तनीय माना है।

राष्ट्र के अर्थ कौम अथवा नेशन (Nation) हैं जो कि देश विशेष की सीमा से बनता है—अर्थात् जो व्यक्ति एक देश विशेष की सीमा के अन्दर रहने वाले हैं और जिनकी सभ्यता, संस्कृति भाषा, साहित्य और त्योहार आदि एक समान है वह सब एक राष्ट्र के अन्तर्गत हैं। चाहे उनके वर्ण भिन्न-भिन्न ही हों। अतः पूर्वोक्त वर्णन से विदित है कि न तो जाति वर्ण की भांति कार्य मूलक है और न ही राष्ट्र की भाँति देश विशेष की सीमा में बद्ध है, अपितु जहाँ वर्ण शब्द अपने सहकारी मनुष्यों और राष्ट्र शब्द एक देश की सीमा में रहने वाले स्वदेश वासियों को परस्पर एकत्रित करता है वहाँ जाति शब्द अपनी नैसर्गिक व्यापकता से सारे मानवीय संसार को सार्वभौम भ्रातृत्व के नाते से संगठित करके मनुष्य मात्र को उनकी जातीय समानता की सद्भावना द्वारा विश्व-प्रेम का सन्देश भी देता है। परन्तु खेद है कि वंशीय तथा देशीय सीमा के पक्षपातियों ने भ्रांतिवश न केवल जाति शब्द के इस वैदिक सार्वजनिक श्रेयात्मकभाव को ही मिटा दिया

है, अपितु जाति शब्द को घृणित तथा द्वेषात्मक भी बना दिया है।

जहाँ वंशीय सीमा के अभिमानियों ने वर्णों की सीमा में सीमित गौड, कपूर और आधुनिक भारतीय अनगणित कुलों को जातियों का निरर्थक नाम देकर मनुष्य जाति को विभक्त करनेवाला अपने और बेगाने तथा ऊँच व नीच कुलीन व अकुलीन छूत व अछूत आदि का सकीर्ण भाव भारत में उत्पन्न कर दिया है, वहाँ देश सीमा के अभिमानी देश भक्तों ने भी देश की सीमा में सीमित जन समूहों को भिन्न २ देशों की भिन्न २ जातियों का नाम देकर उनके हृदय में परस्पर के लिए द्वेश का बीज बो दिया है। इससे स्पष्ट है कि इन दोनों ने ही जाति शब्द के दुरुपयोग से मनुष्य जाति के मनुष्यत्व के व्यापक नाते को विलुप्त करके मानवीय जगत् को अत्यन्त हानि पहुँचाई है। और इन दोनों में भेद इतना ही है कि भारतीय जातपात तो देशके आभ्यान्तरिक वैमनस्य और कलह का कारणहै और देश की सीमा से सीमित धर्म शन्य जातीयता (राष्ट्रीयता) अपने देश से बाहर ससार भर के देशों को एक दूसरे का विरोधी और शत्रु बनाती है। अत. भारतीय लेखकों से निवेदन है कि वह 'वर्ण' 'जाति' और 'राष्ट्र' शब्दों का शास्त्रीय अर्थों में यथार्थ प्रयोग करके पाठकों को उक्त शब्दों की निरर्थक भूलभुलय्यों से निकाल कर वास्तविक अर्थों का यथावत् बोध कराएँ, क्योंकि मन माने अर्थों में इनका प्रयोग करने से वेदादि शास्त्रों का

वास्तविक अभिप्राय ज्ञात नहीं हो सकता। समाज सुधारक सज्जनों से भी प्रार्थना है वह उक्त शब्दों के अशुद्ध प्रयोग से मानव-समाज मे जो जन्मसिद्ध पवित्रता अपवित्रता ऊँच-नीच तथा छूत-अछूत आदि का भ्रमात्मक व्यवहार हो रहा है, उसको दूर करके मानव समाज को परस्पर भ्रातृत्व के सूत में संगठित करके धर्म पूर्वक व्यवहार करना सिखलावें। ताकि मानव समाज को पुन वैदिक काल के समान सुख शान्ति और समृद्धि की प्राप्ति हो। जैसा कि निम्नलिखित ऋग्वेद के मन्त्र में आदेश किया गया है :—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठासएत सं भ्रातरो।
वावृधु सौभगाय। ऋ० ५।६०।५॥

अर्थात् मनुष्यों में न कोई बड़ा है न छोटा है यह सब आपस में एक जैसे बराबर के भाई हैं। वह सब मिलकर लौकिक तथा पारलौकिक उत्तम ऐश्वर्य के लिए प्रयत्न करें।

———

ओ३म्

वर्णव्यवस्था का वैदिक रूप

ऋग्वेद मंत्र १० सूक्त ९०, यजुर्वेद अध्याय ३१ और अथर्ववेद का० १९ सू० ६ जिनका नारायण ऋषि तथा देवता पुरुष है। जिन में पुरुष[1] अर्थात् सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी उत्पन्न की हुई आदि सृष्टि तथा वेदों के प्रादुर्भाव का वर्णन है। यहाँ पर ऋग्वेद के मंत्र १२, यजुर्वेद के मंत्र १० और अथर्वेद के मंत्र ४ में यह प्रश्न किया गया है कि सूक्त (पुरुषसूक्त) में जिस पुरुष की अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है उसके मुख, बाहु, ऊरू—मध्य[2] (अ० वेद), तथा पाद क्या हैं? जिसका उत्तर निम्न मंत्र में दिया गया है।:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऋ० १०।९०।१२
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ य० ३१-११ अ० १९।६।६

---

१. 'पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा। निरुक्त २।३।१॥

टीकाकार श्री दुर्गाचार्य जी "पूरयतेर्वा" शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं "पूर्णमनेन पुरुषेण सर्वगतत्वात् जगदिति-पुरुषः' अर्थात्—सर्वव्यापक होने से जिस से सब जगत् पूर्ण है इसलिए वह पुरुष है।

२. अथर्व वेद में 'ऊरु' के स्थान पर 'मध्यं' आया है और 'कृतः' के स्थान पर 'अभवत्' ऐसा पाठभेद है।

अर्थात् – ब्राह्मण उसका मुख है, क्षत्रिय को बाहु बनाया, उसका जो ऊरु—चौड़ा अथवा मध्य भाग है वह वैश्य हुआ और पैरों (के समान) शूद्र उत्पन्न हुआ।

अभिप्राय यह है कि सूक्त के इससे पहले मंत्र में जो प्रश्न किया गया था। उसका उत्तर इस मंत्र में यह दिया गया है कि सूक्त में जिस पुरुष अर्थात् सर्वव्यापक जगत् रचयिता का वर्णन है उसके विराट् स्वरूप अथवा मानवीय सृष्टि में ब्राह्मण उसका मुख क्षत्रिय भुजायें, वैश्य ऊरू अथवा मध्य भाग और शूद्र उसके पाँव (के समान) हैं।

इस मंत्र में अलंकार रूप से निम्नलिखित शिक्षा दी गयी है :—

(क) हे मनुष्यो ! जिस प्रकार मनुष्य शरीर में शारीरिक व्यवहार-सिद्धि के लिए भिन्न २ कार्यों के करने के निमित्त मुख, बाहु, शरीर का मध्य भाग और पैर भगवान् ने बनाये हैं उसी प्रकार तुम भी सामाजिक कार्यों की सिद्धि के लिए मानव समाज अथवा मननशील सभ्य आर्य) मनुष्यों के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार प्रकार के कार्यकर्ता बनाओ।

(ख) मंत्र में मनुष्य-शरीर के विशेष अङ्ग से विशेष वर्ण को दी गई उपमा से यह ज्ञात होता है कि जिस प्रकार मनुष्य मुख से अपने ज्ञान तथा वाणी द्वारा, बाहु से अपने हाथों तथा बल

द्वारा, पेट अपने पाचक तथा विरेचक क्रिया द्वारा और जंघा (पैर) सारे शरीर के बोझ को उठाये हुए गमनागमन द्वारा शारीरिक रक्षा तथा आवश्यकताओं को पूरा करते हैं उसी प्रकार सभ्य मानव समाज में जो सज्जन ज्ञानवान् (विद्वान्) होकर अपनी वाणीद्वारा विद्या को फैलायें अर्थात् पढ़ायें और उपदेश करें वह ब्राह्मण, जो वीर बाहुओं के समान व्यक्तियों तथा राष्ट्र की सम्पत्ति व जीवन की (माल व जान) तथा स्वत्वों की रक्षा करें वह क्षत्रिय; जो व्यापार शील, मनस्वी शरीर के मध्य भाग (पेट) की भांति अपने व्यापार (क्रिया) से धनादि सम्पत्ति अथवा जीवनाधार वस्तुओं को एकत्रित करके राष्ट्र के पालन-पोषण का कारण बने वह वैश्य; और जो कर्मशील तपस्वी मनुष्य जीवन के आधार अन्न वस्त्रादि पदार्थों को उत्पन्न तथा गृह, रथ, विमान, अस्त्र शस्त्रादि सारी आवश्यकीय वस्तुओं को बना कर शरीर का बोझ उठाने वाली जंघाओं के समान मानव जाति की आवश्यकताओं को पूरा करने का बोझ अपने ऊपर ले अथवा पौराणिक भाषा में जाति की सेवा करें वे शूद्र हैं; क्योंकि राष्ट्र और देश की सब से बड़ी सेवा यही है कि जिन वस्तुओं की उसे आवश्यकता है वह उत्पन्न की जायें।

(ग) जिस प्रकार पूर्ण शरीर वही हो सकता है और वही मनुष्य की आवश्यक क्रियाओं को सिद्ध कर सकता है जो कि सर्वाङ्ग-पूर्ण हो अर्थात् ब्राह्मणत्व, क्षत्रित्व, वैश्यत्व, तथा

शूद्रत्व के साधन विद्यमान हों इसी प्रकार समाज भी वह ही पूर्ण और अपनी आवश्यकताओं को पूरी करने में समर्थ हो सकता है जिस में सामाजिक कार्यों को पूरा करने वाली ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रूप व्यवसायिक (Proffessional) श्रेणियां विद्यमान हों और शारीरिक अंगों की भांति वह परस्पर सहयोगी बन कर मानव समाज की आवश्यकताओं को पूरा करें।

(घ) प्रत्येक मनुष्य में मुख, बाहु, पेट और जंघों की विद्यमानता में ब्राह्मणत्व, क्षत्रित्व, वैश्यत्व और शूद्रत्व विद्यमान हैं इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, अपने पैरों की मौजूदगी में शूद्रत्व से खाली नहीं हो सकते और न ही शूद्र अपने मुख, बाहु, और पेट के होते हुए ब्राह्मणत्व, क्षत्रित्व और वैश्यत्व से शून्य हो सकते हैं अर्थात् मनुष्य शरीर में सामान्य तथा चारों वर्ण के साधन मौजूद हैं परन्तु विशेषरूप से जो व्यक्ति अपनी विशेष योग्यता और रुचि के अनुसार जिस वर्ण (पेशा) का काम करता है वह उसी वर्ण का कहलाता है।

(च) जिस प्रकार पैर (जंघा) शरीर का अंग है और उन्हें शरीर से पृथक् नहीं किया जा सकता, यदि करेंगे तो शरीर के दूसरे अंग मुखादि भी बेकार हो जावेंगे और शरीर अपाहज हो जावेगा अथवा यह भी संभव है कि जंघाओं के अलग करने से शरीर का ही अन्त हो जाये इसी प्रकार शूद्र को भी आर्य राष्ट्र से पृथक नहीं किया जा सकता। यदि किया जायेगा तो

आर्य राष्ट्र भी अपने परिश्रमी अंग शूद्र के न रहने से अपाहज होकर बेकार अथवा निर्जीव सा हो जायेगा।

(च) मुख, बाहु, पेट और जंघाओं में परस्पर आचार का भेद नहीं बल्कि कार्य का भेद है, अर्थात् प्रत्येक अंग शारीरिक-क्रिया अथवा व्यवहार-सिद्धि का साधन है, विशेष २ आचार सिद्धि का नहीं, इसलिये वेद मंत्र में इनसे उपमा दिये गये ब्राह्मणादि वर्ण भी आचार भेद से नहीं बल्कि कार्य भेद से ही बनते हैं।

(छ) उक्त मंत्र में समाज-निर्माण सम्बन्धी सबसे महत्त्वपूर्ण इस बात का निर्देश किया गया है कि चारों वर्णों को परस्पर वैसा ही प्रेम, सहानुभूति और पूर्ण सहयोग (Cooperation) होना चाहिए जैसा कि मनुष्य-शरीर के मुखादि चारों अंगों में परस्पर है, अर्थात् जिस प्रकार पैरों मे कांटा लगने पर सारा शरीर दुःखी हो जाता है, मस्तिष्क कांटा निकालने की चिन्ता करता है, आंखें कांटे में गड़ जाती हैं, हाथ उसके निकालने का यत्न करते हैं और जब तक कांटा निकल नहीं जाता दूसरे अंग भी चैन नहीं लेते इसी प्रकार चारों वर्णों को भी एक दूसरे को अपने मानव समाज अथवा राष्ट्र का एक अंग समझ कर और आपस में सहयोगी बन कर एक दूसरे की प्रेम पूर्वक सहायता करते हुए सब के दुःख दूर करने चाहिये। यदि वह ऐसा नहीं करेंगे तो वर्ण व्यवस्था की आयोजना का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकेगा, अर्थात् यदि भिन्न २ वर्णस्थ मनुष्य अज्ञानता अथवा

छुटाई बड़ाई के मद में परस्पर सहयोग नहीं करेंगे तो सब का जीवन उसी प्रकार संकट में पड़ जायेगा कि जिस प्रकार शारीरिक अंगों का परस्पर का असहयोग उनके लिये घातक हो सकता है।

(ज) जिस प्रकार मुखादि चारों अंग एक ही शरीर में रहते और अपना २ कार्य करते हैं उसी प्रकार चारों वर्णों के व्यक्ति परिवार रूप से एक ही घर में रहें और अपना २ काम करते हुए भिन्न २ अंगों की भांति अपने २ कार्य की दृष्टि से ब्राह्मणादि भिन्न २ वर्णों के कहलायें अर्थात् जिस प्रकार आज कल एक ही पिता के पुत्रों में से एक भाई अध्यापक, दूसरा जज, तीसरा व्यापारी और चौथा इंजीनियर अथवा शिल्पकार और कृषिकार (किसान) होता है और यह सारे अपना २ कार्य करते हुए परिवार रूप से एक ही घर में रहते हैं और मास्टर तथा जजआदि कहलाते हैं, अपनी आजीविका और पारिवारिक आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। यह स्वाभाविक है कि लोग उन्हें उनके कार्य की दृष्टि से मास्टर आदि कहें क्योंकि यह सांकेतिक शब्द हैं जो कि मनुष्यके व्यवसाय अथवा व्यावहारिक स्थिति (Position) के द्योतक हैं। वेद के नीचे लिखे मन्त्र से उक्त अभिप्राय बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है:—

कारुरहं ततो भिषगुपल प्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम ॥ ऋ. ९।११२।३

अर्थात् मैं कारीगर हूँ, मेरा पिता वैद्य है और मेरी माता चक्की पीसती है। इस प्रकार भिन्न २ बुद्धियों अर्थात् योग्यता के काम करने वाले, धन के अभिलाषी, हम सब अपने २ कामों को करते हैं और गौवों की भांति मिल कर एक ही घर में रहते हैं।

इस प्रकार के अनेक ऐतिहासिक प्रमाण पुराणादि ग्रंथों मे भी मिलते हैं कि जिनसे यह सिद्ध होता है कि एक ही परिवार के व्यक्ति चारों वर्णों के हुआ करते थे। यथा —

पुत्रो गृत्समदस्याऽपि शुनको यस्य शौनक ।
ब्राह्मणा क्षत्रियाश्चैव वैश्या शूद्रास्तथैव च, एतस्य वंश सम्भूता विचित्रा कर्मभिद्‌जा ॥ (वायुपुराण)

अर्थात् -गृत्समद का पुत्र शुनक, शुनक से शौनक, इस शौनक के चार लडके कर्मभेद से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण के हुए।

हरिवंश पुराण अ० ३१

एते ह्यांगिरस पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे ।
ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्या शूद्राश्च भरतर्षभ ॥

अर्थात् भार्गव वंश में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र चारों वर्ण हुए।

मत्स्य पुराण अ० ४ में भी लिखा है कि मनु के पुत्र वामदेव के पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र हुए। इत्यादि ऐतिहासिक प्रमाणों से भी भली भांति विदित है कि पूर्व काल में ब्राह्मणादि वर्णों के वंश भिन्न २ नहीं होते थे अपितु ब्राह्मणों, क्षत्रियों की

सन्तान चारों वर्णों की होती थी अर्थात् एक पिता के पुत्र होते हुए भिन्न २ वर्णों (पेशों) का काम करने के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, और शूद्र बनते थे। उस समय न तो वर्णों की विभिन्नता भाइयों के अलग होने का कारण थी और न ही उनमें कोई ऊंच, कोई नीच, कोई छूत और अछूत ही था बल्कि सब भाइयों के अधिकार और कर्तव्य बराबर होते थे और परिवार-रूप से एक ही घर में रहते थे। वर्णों के परस्पर के सहयोग का यह सर्वोत्तम प्रमाण है कि भिन्न२ वर्णों के मनुष्य एक परिवार रूप से एक ही घर में रहें और उनकी सम्पत्ति भी सांझी हो।

यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि मंत्र में ईश्वर के विराट् स्वरूप का मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, मध्य भाग वैश्य और पैर शूद्र बताये हैं इसलिए यह मानव जाति के चार मुख्य विभाग हैं जिनमें दस्यु भी शामिल हैं अतः यह केवल आर्यों के विभाग नहीं हो सकते? इसका उत्तर ऋ० १०।२२।८ से मिल जाता है जिसमें दस्यु को अकर्मा, अमन्ता और अमानुष बतलाया है। अर्थात् दस्यु वह है जो कि वर्णों के निश्चित कर्म और यज्ञादि परोपकार के कर्म नहीं करता, मननशील नहीं। (बिना सोचे समझे काम करता है।) और जिसमें मनुष्यत्व भी नहीं है। चूंकि वेद ने दस्यु के जो विशेषण बताये हैं उनके अनुसार दस्युओं को मननशील अथवा सभा के योग्य (सभ्य=आर्य) श्रेणी में शामिल नहीं कर सकते इसलिए शूद्र ही आर्य राष्ट्र के

अंग हो सकते हैं दस्यु नहीं क्योंकि जो दस्यु वेद के अनुसार चोर डाकू और हिंसक हैं और अव्रती होने के कारण किसी नियम का पालन नहीं करते वह कामों को बांट कर करने वाली वर्णों की सामाजिक आयोजना में सम्मिलित नहीं हो सकते। इससे विदित है कि ब्राह्मणादि चारों वर्ण भिन्न २ काम करने वाले आर्यों के ही चार भेद हैं। मनुस्मृति के निम्न श्लोक से भी मेरे उपरोक्त कथन का समर्थन होता है—

मुखबाहूरुपज्जाना या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छ वाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥ मनु० १०।४५

अर्थात्-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से जो लोग बाहर हैं वे चाहे म्लेच्छ भाषा बोलते हैं चाहे आर्य भाषा, वे सब दस्यु हैं।

इससे विदित है कि मनु जी भी दस्युओं को चारों वर्णों से अलग मानते हैं।

वेद के उक्त मंत्र में अलंकार रूप से वर्ण-व्यवस्था रूप जिस सामाजिक आयोजना का वर्णन मिलता है। उसका स्पष्ट रूप से वर्णन यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में किया गया है।

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं ..

अर्थ—हे राजन्! (ब्रह्मणे) मानव जाति के उन्नत तथा सभ्य बनाने वाली लोक और परलोक सम्बन्धी सब प्रकार की विद्याओं के प्रचार और प्रसार के लिए 'ब्राह्मणं' सब प्रकार की विद्याओं को जानने वाले ब्राह्मण [विद्वान्] को: (क्षत्राय)

राजाओं को सुव्यवस्थित तथा सुरक्षित रखने वाले राज्य तथा राज सम्बन्धी प्रबन्ध और रक्षा के लिए "राजन्यं" क्षत्रिय को; (मरुद्भ्यः) वायु के समान प्राणियों को जीवन देने वाली अनादि वस्तुओं को व्यापार द्वारा उपलब्ध करा कर प्रजाओं के पालन-पोषण करने के लिए "वैश्यं" वैश्य को; (तपसे) श्रम अथवा मेंहनत से अन्न वस्त्रादि श्रमसाध्य वस्तुओं को उत्पन्न तथा सब प्रकार के शिल्पकारी आदि कठिन कार्य करने के लिए "शूद्र" शूद्र अर्थात् किसान, लोहार, मैमार (राज) नज्जार (बढ़ई) आदि २ कारीगरों को उत्पन्न (शिक्षित बना कर) कीजिए।

भावार्थ—इस मंत्र में राजा को आदेश किया गया है कि मानवी संसार की जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं और व्यवहार की सिद्धि के लिए राज्य में ब्राह्म (Educational) क्षात्र (Civil and military) वाणिज्य (Commerce) और श्रम (Labour) मुख्य चार विभाग (Department) बना कर उसमें काम करने वाले ब्राह्मण (अध्यापक, उपदेशक, पुरोहित) क्षत्रिय (प्रबन्ध तथा रक्षा करने वाले राज-कर्मचारी), वैश्य (व्यापारी) और शूद्र, (अन्न वस्त्रादिक वस्तुओं के उत्पन्न करने वाले किसान तथा अस्त्र शस्त्रादि बनाने वाले अनेक प्रकार के शिल्पी कारीगर) शिक्षा द्वारा (द्विजन्मा बनाकर) (Trained) पेशावर (Professional) कार्यकर्ता उत्पन्न करो।

व्याख्या—(१) मंत्र में आये हुए 'तपसे शूद्र' पद का अर्थ जो मैंने श्रमसाध्य पदार्थों की उत्पत्ति तथा कठिन कामों के करने

के लिए शूद्र' किये हैं यह अर्थ नये नहीं हैं क्योंकि महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने इसके अर्थ "दुःख से उत्पन्न होने वाले सेवन के लिये शूद्र को" और श्री पं० शिवशंकर जी काव्यतीर्थ ने "परिश्रमी और कठिन कार्य वाले शूद्र को" तथा आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् श्री स्वामी वेदानन्द जी ने "कठिन कर्म के अनुष्ठान के लिये शूद्र को" के ही किये हैं और यही अर्थ प्रकरणानुकूल हो सकते हैं क्योंकि मन्त्र में पहले तीनों वर्णों के कार्य बतलाये गये हैं, उनके पश्चात् शूद्र के काम बतलाना ही प्रकरणानुकूल हो सकता है, इसके अतिरिक्त वेद के अन्य मन्त्रों में भी वस्तुओं के बनाने का साधारण कारण तप को ही बतलाया है यथाः—

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चा भीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ऋ० १०।१६।१

अर्थात् ईश्वर ने (अभीद्धात् तपसः) अपनी अनन्त सामर्थ्य से जगत के पदार्थों को रचा है (ऋषि दयानन्द)। जिस प्रकार इस मंत्र में ईश्वर के तप (अनन्त सामर्थ्य) को जगत का साधारण कारण बतलाया है ठीक उसी प्रकार पूर्वोक्त मंत्र के "तपसे शूद्र" पद में शूद्र के तप (परिश्रम रूप सामर्थ्य) को व्यवहारोपयोगी वस्तुओं के उत्पन्न करने और बनाने का साधारण कारण बतलाया है। इसलिए उक्त पद का जो अर्थ मैंने किया है वह वेद की शैली और प्रकरण के सर्वथा अनुकूल है। भारतवर्ष में अब तक भी इन लोहार, चमार, मैमार नज्जारादि कारीगरों को

शूद्र कहते हैं और आज कल की लोक-भाषा में भी इनको कम्मी या कमीन कहा जाता है जो कि संस्कृत के शब्द कर्मी या 'कर्मण्य' का ही अपभ्रंश है जिसके अर्थ काम करने वाले के हैं, किन्तु पौराणिक काल में जब दस्यु और शूद्र शब्द पर्यावाची बना दिए गए तब इस कमीन शब्द के अर्थ भी कमीना या नीच हो गए जोकि नितान्त अशुद्ध हैं। अतः इन लोहार, चमारादि शूद्रों को 'कर्मण्य' अथवा कर्मी कहना भी इस बात का प्रमाण है कि दस्त-कारी अथवा शिल्पकारी और श्रम साध्य सारे काम इन तपस्वी शूद्रों के ही हैं।

(२) संभव है कि मेरे पूर्वोक्त कथन में साहित्यसेवी सज्जनों को कुछ सन्देह हो, क्योंकि संस्कृत-साहित्य में 'शूद्र' शब्द की की हुई व्युत्पत्ति यह मिलती है "शुचा शोकेन द्रवतीति शूद्रः" अर्थात् जो शोकातुर होता है वह शूद्र है। कोई २ पंडित इसका यह अर्थ भी करते हैं कि जो "दूसरों के दुःख को देख कर शोक से द्रवीभूत हो" अथवा "जो अपने में किसी विशेष न्यूनता को देख कर शोकातुर हो" वह शूद्र है, जैसा कि महाराजा जानश्रुति पौत्रायण वेदज्ञ न होने के कारण शोकातुर हुआ था और वह जब वेदाध्ययन करने के लिए 'रैभ" ऋषि के पास गया तब ऋषि ने उसे शूद्र कह कर पुकारा था। परन्तु मेरी समझ में 'शूद्र' शब्द की उपरोक्त व्युत्पत्ति से न तो श्रमजीवी वैदिक आर्य शूद्र वर्ण का बोध होता है और न ही द्विजों के

पांव धुलने और धोती धोने वाले सेवक पौराणिक शद्र का।

इसके अतिरिक्त यह व्युत्पत्ति व्यभिचारी भी है, क्योंकि इस की व्याप्ति दूसरे वर्णों में भी होती है अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य भी शोकग्रस्त होते हैं, बल्कि वह आजकल के शूद्रों से भी अधिक। इसलिये शूद्र शब्द की व्युत्पत्ति ऐसी होनी चाहिये जो शूद्र वर्ण के काम भी बतलाये और शूद्र तक ही सीमित रहे। जैसे कि 'क्षत्रिय' शब्द की यह व्युत्पत्ति 'क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः" अर्थात् जो घाव अथवा खतरे से बचाये वह क्षत्रिय है। इसलिये वेद के पूर्वोक्त मंत्र के प्रकाश में वैदिक शूद्र शब्द की व्युत्पत्ति यह होनी चाहिये 'श्रमेण द्रवति धावतीति शूद्रः"अर्थात् जो श्रमसाध्य और कठिन कामों को करता हुआ पसीना बहाये, पिघले और दौड़ धूप करे वह शूद्र है। शूद्र के धात्वर्थ भी दौड़ने वाले और मेहनती के हैं। शूद्र शब्द निरुक्त के अनुसार शू-द्रवति (द्रु- गतौ) से बनता है। (उणादि कोष ३-२८)

(३) यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि स्मृतियों में शूद्रों का काम केवल द्विजों की सेवा करना ही बतलाया है, जैसा कि मनुस्मृति के निम्न श्लोक से विदित है

एकमेव तु शूद्रस्यप्रभुः कर्म समादिशत्। मनु० १।९१

इसलिये शूद्र की उक्त व्युत्पत्ति ठीक नहीं हो सकती। इसका उत्तर

यह है कि उक्त व्युत्पत्ति वैदिक शूद्र शब्द के अर्थ को ठीक प्रकट करती है इसलिये वही ठीक है और इस श्लोक में शूद्र का जो काम बतलाया गया है वह वैदिक शूद्र का नहीं बल्कि पौराणिक शूद्र (वैदिक दस्यु) का है और यदि उक्त श्लोक में वैदिक शूद्र का वर्णन मान लिया जाय और शूद्र-वर्ण का काम सेवा करना अर्थात् पांव दबाना, बिस्तरा बिछाना, झाड़ू लगाना आदि ही हो तो फिर यह प्रश्न होगा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के कामों के अतिरिक्त जो अनगिनत काम बाकी हैं अर्थात् मनुष्य जाति के जीवन आधार अन्न वस्त्रादि पदार्थों की उत्पत्ति, मकान, बर्तन, रथ, विमान आदि, लकड़ी, धातु तथा मिट्टी और अस्त्र शस्त्रादि लोहे व जूते आदि चमड़े आदि २ मनुष्योचित जीवन व्यतीत करने के साधनभूत वस्तुओं के उत्पन्न करने और बनाने का काम किस वर्ण का है ? यदि किसी वर्ण का भी नहीं है तो कामों को बाँट कर करने के लिये वर्णों अथवा वर्ण व्यवस्था की वैदिक आयोजना अधूरी और अपूर्ण होगी, क्योंकि ये काम न तो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के हैं और न ही दस्युओं के हो सकते हैं, क्योंकि वेद के अनुसार दस्यु वह है जो 'अकर्मा' और "अव्रता" है अर्थात् जो कोई काम भी नहीं करते और न ही सामाजिक नियमों का पालन करते हैं। तब यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि पहले तीन वर्णों के कामों के अतिरिक्त जो भी शेष श्रम-साध्य काम हैं सब शूद्रों के हैं जैसा कि वेद के पूर्वोक्त मंत्र के

"तपसे शूद्रं" पद से दिखलाया गया है। ऐसा मानने से ही समाज-निर्माण का मुख्य अंग "वैदिक वर्ण व्यवस्था" की आयोजना पूर्ण हो सकती है।

संभव है कि उक्त आक्षेप के निवारणार्थ यह कहा जाय कि "अन्नादि उत्पन्न करना तथा गोपालन करना वैश्य का काम है शूद्र का नहीं" परन्तु ऐसा कहना भूल है और यदि विचारार्थ उक्त कथन को मान भी लिया जाय तो भी यह आक्षेप बना रहता कि अन्न की उत्पत्ति तथा गोपालन के अतिरिक्त अस्त्र शस्त्र तथा वस्त्र और रथ, मकान विमानादि जिन २ वस्तुओं की मनुष्योचित जीवन व्यतीत करने के लिये अत्यन्त आवश्यकता है उनको कौन बनाये? इसका कोई उत्तर नहीं हो सकता। अतः उक्त मन्तव्य वेदशास्त्रानुकूल तथा बुद्धिसम्मत भी नहीं हो सकता कि कोई व्यापार-कुशल व्यापार में लगा हुआ वैश्य (दुकानदारादि) स्वयं हल चला कर खेती बाड़ी और पशु-पालनभी कर सकता है। हां शूद्रों का सहायक बन कर खेती बाड़ी और गोपालन कराना, व्यापार में शामिल होने से वैश्य का काम हो सकता है। और है। परन्तु खेती बाड़ी और पशु पालन करना किसानों और गोपालों का काम है जो कि शूद्र हैं और वेद आदि शास्त्रों से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। पीछे उद्धृत किये गये यजुर्वेद अ० ३० मन्त्र ५, में वैश्य का वर्णन आ चुका है और वेद के इसी तीसवें अध्याय के मंत्र ११ में गोपाल और कीनाश शब्द भी आये हैं जिनका अर्थ श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज ने यह किया है। (पुष्ट्यै) पुष्टि

रखने के लिये (गोपाल) गौओं के पालन करने हारे को (इरायै) अन्नादि के बढाने के अर्थ (कीनाशं) खेतिहर [किसान] को उत्पन्न करो। ऋ० ४।५७।८ में भी "कीनाश" शब्द आया है जिसका अर्थ स्वामि दयानन्द जी ने इस प्रकार किया है-कीनाशाः-कृषि का काम करने वाले (शमं) सुख को (अभियन्तु) प्राप्त हों। इन उदाहरणों से जहां यह विदित होता है कि किसान और गोपाल वैश्यों से पृथक् हैं वहाँ यह भी सिद्ध होता है कि खेती बाड़ी करके अन्नादि उत्पन्न करना और गोपालन किसानों और गोपालों का काम है वैश्यों का नहीं।

इसके अतिरिक्त स्मृतियों और पुराणों में भी किसानों और गोपालों को वैश्यों से भिन्न और शूद्र माना है यथा—

> अर्धिकः कुल मित्र च गोपालो दासनापितौ।
> एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ मनु० ४।२५३

इस श्लोक में किसान को 'अर्धिकः' (आधे में खेती करने वाला) और किसान व गोपाल को शूद्रों में गिना है इसी प्रकार व्यासस्मृति ३।५१ में और पद्मपुराण अ० खण्ड २ अ० ६ में भी इनको शूद्र बतलाया है वैश्य नहीं। व्यासस्मृति में किसानों को "अर्धसिरिण" (आधे के हिस्सेदार) पद्मपुराण में 'सैत्रकर्मक' तथा वराहपुराण में 'कीनाशम्' लिखा है। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति अ० ८ श्लोक २२६ में लिखा है कि 'अब मैं पशु-स्वामी और पशुपालों के विगाड़ में व्यथावत् धर्मयत्व के विवाद को लिखता हूँ

और इससे आगे श्लोक २३४ इस प्रकार है:—

कर्णौ चर्म च वालांश्च वस्तिं स्नायुं च रोचनाम्।
पशुषु स्वामिना दद्यान्मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत्॥

मनु० ८ श्लोक २३४॥

अर्थात् यदि पशु स्वयं मर जावें तो उनके अंग स्वामी को गोपाल दिखला दे और कान, चर्म, बाल, वस्ति, स्नायु, रोचना स्वामी को दे देवे॥

। इन श्लोकों से स्पष्ट है कि स्मृति काल में वैश्य व्यापारी देश की भूमि की उपज तथा पशुओं की वृद्धि के लिये जमीन और पशु खरीद कर आधे में बेकार, तथा निर्धन शूद्र किसानों और गोपालों की सहायतार्थ उनसे खेती तथा गोपालन कराया करते थे, जैसा कि इस समय भी वैश्य लोग किसानों से खेती कराते हैं और पशु पालन के संबध में कुछ प्रान्तों में यह रिवाज आज तक चला आता है कि सेठ साहूकार (वैश्य) व्यापार की दृष्टि से पशु खरीदकर गोपालों को आधे भाग पर दे देते हैं। उनमें से जो पशु अपनी मौत मर जाते हैं गोपाल साहूकार को दिखा देते हैं। यदि साहूकार दूर हो तो मृत पशु का सिर काटकर चमार के घर रख दिया जाता है और साहूकार के आने पर वह उसे दिखला दिया जाता है कि उसे विश्वास हो जाय। अत यह बात निश्चित है कि यह खेती-बाड़ी और पशु पालन आदि सब श्रमसाध्य कार्य करना आर्यों के चौथे वर्ण शूद्र का कार्य है

अथवा दूसरे शब्दों में सब श्रमसाध्य कार्य करने वाले ही शूद्र कहलाते थे।

कुछ देश भक्त सज्जन यह भी कहते सुने जाते हैं कि शिल्पकार शूद्र नहीं अपितु वैश्य हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि या तो उन्होंने वैदिक वर्णव्यवस्था की आयोजना का अध्ययन नहीं किया और वह शिल्पकारों का समाज में दरजा ऊंचा करके भारत में शिल्पकारी को उन्नत करना चाहते हैं। या वे स्वयं शूद्रों को अछूत और नीच समझते हैं, और वह शूद्रों को अछूत और नीच समझने वाले संकीर्ण विचार हिन्दुओं से यह आशा नहीं करते कि शिल्पकारों को शूद्र मानते हुए उनका दरजा समाज में ऊंचा और देश को उन्नत और सम्पत्ति तथा समृद्धिशाली करने वाली शिल्पविद्या की उन्नति हो सके। सम्भवतः इसी विचार से वे शिल्पकारों को शूद्रों से निकाल कर वैश्यों की श्रेणी में सम्मिलित कराना चाहते हैं। यद्यपि उनकी यह भावना अत्युत्तम और सराहनीय है तथापि उनका यह मन्तव्य समाज के व्यवहार सिद्धि के कामों को बांट कर करने वाले चार विभागों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) में विभक्त अथवा वैदिक वर्ण व्यवस्था की सामाजिक आयोजना करने वाले वेदादि सत्य शास्त्रों के अनुकूल न होने से सत्य नहीं है। क्यों कि न तो शूद्र नीच और अछूत है जैसा इस पुस्तक में वेदआदि के प्रमाणों से सिद्ध किया गया है और न ही शिल्पकार वैश्य हैं। इस विषय में कुछ प्रमाण पीछे भी आ चुके हैं। और निम्न लिखित

प्रमाणों से भी इसकी पुष्टि होती है:—

(क) यजुर्वेद अध्याय ३० के पांचवें मन्त्र से व्यवसायिक (Professional) लोगों का वर्णन आरम्भ होता है। पांचवें मन्त्र में पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र और उनके कामों का वर्णन आया है। मन्त्र में पहले तीनों विभागों (ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य) अथवा वर्णो के कार्यो (क्रमशः पढ़ाना, उपदेश करना; प्रबन्ध और रक्षा करना तथा व्यापार करना) को क्रमशः बतलाकर तप अथवा श्रम से सिद्ध होने वाले सारे काम शूद्र के बतलाए हैं। इससे आगे के मन्त्रों में श्रम-जीवी शूद्रों अर्थात् रथकार, बढ़ई, लुहार, मणीकार, बाणकार, वस्त्र आदि शस्त्रकार, गोपाल, अजपाल, कीनाश (किसान), चौकीदार, सारथी, लकड़हारे, धोबी; रंगसाज़, विमान चलाने वाले कैवर्त तथा नट आदि शिल्पकारों तथा अन्य श्रम-जीवियों का वर्णन आया है। इससे विदित है कि शिल्पकार भी शूद्रों में गिने गए हैं वैश्यों में नहीं।

(ख) वेद के प्रमाण के पश्चात् शूद्र तथा शिल्प के पर्याय होने का प्रबल प्रमाण यह है कि उक्त दोनों शब्दों के धातु गति अर्थ वाले हैं। यथा शिल्प शब्द "शल् गतौ" धातु से बना है तथा शूद्र शब्द निरुक्त के अनुसार "शू द्रवति द्र गतौ" से बना है। इस से स्पष्ट है कि दोनों शब्दों में गति वाचक धातु हैं। इस लिये दोनों शब्दों की भावना समान ही है। उक्त शब्द उणादि कोष ३, ८८ पर हैं।

(ग) मनुस्मृति में भी सेवकों और शिल्पकारों को शूद्रों में ही गिना है यथा:—

(१) यै कर्मभिः प्रचारितैः शुश्रुष्यन्ते द्विजातयः ।

तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥ मनु १०।१००।

अर्थात्: जिन प्रचारित कर्मों से द्विजातियों की शुश्रूषा (सेवा) की जाती है उनको और नाना प्रकार के शिल्पों को भी कारुक कर्म कहते हैं ॥

आगे इसी अध्याय में यह लिखा है:—

(२) धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशंकार्षापणावरम् ।

कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥ मनु १०।१२०।

अर्थात्- -शूद्र कारीगर बढ़ई आदि शिल्पकार काम करके कार्य रूप ही कर देने वाले हैं (राजा विपत्ति में भी उनसे कर न ले) उक्त मनु अ० १० के १०० श्लोक में शिल्पी कामों को और सेवा को कारुक कर्मों में गिना है और १२० श्लोक में कारुक कर्म करने वाले शिल्पकारों को स्पष्ट शब्दों में शूद्र लिखा है। गरुड़ पुराण अ० ४९ और वराह पुराण में भी शिल्पकारों का वर्ण शूद्र बतलाया है।

(घ) वैश्य का कार्य व्यापार करना है और राज, बढ़ई तथा लुहार आदि का काम मकान, रथ तथा अस्त्र शस्त्र आदि बनाना है और यह वस्तु बनाना व्यापार नहीं है अतः इनके बनाने वाले वैश्य नहीं हो सकते अपितु शूद्र हैं। अथवा यूं समझिए कि एक कारखानादार जो बढ़ई और लुहार आदि शिल्पकारों से

लकड़ी लोहे आदि की वस्तुएं वनवा कर वेचता और उनका व्यापार करता है वह तो वैश्य है परन्तु जो स्वयं हाथ से वे वस्तुएं वनाते हैं वे शूद्र हैं।

(ङ.) योरोप में भी हाथ से काम करने वाले वढ़ई लुहार आदि शिल्पकारों को श्रमजीवियों (Labourers) में गिनते हैं वैश्य व्यापारियों (Traders) में नहीं।

कुछ सज्जनोंकी ओर से यह आक्षेप भी प्राय: होता है कि योरुप तथा अन्य देशों में भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र आदि वर्णात्मक नाम न होने पर भी उनके व्यवहारिक कार्य चलते हैं तो भारत में भी यह नाम रखने की क्या आवश्यकता है ? जो मनुष्य जैसा काम करेगा उसका उसी के अनुसार नाम पड़ जाएगा। ज्ञात होता है कि ऐसा करने वाले सज्जनों ने इस विषय पर विशेष विचार नहीं किया, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम भी काल्पनिक अथवा निरर्थक नहीं है अपितु कार्य-मूलक हैं। ब्राह्म विभाग में काम करने वाली ब्राह्मण श्रेणी के अन्तर्गत आचार्य, अध्यापक, उपदेशक, ज्योतिषी, दार्शनिक, और पुरोहित आदि नाम आजाते हैं। और इसी प्रकार क्षात्र तथा वाणिज्य विभाग में काम करने वाली क्षत्रिय तथा वैश्य श्रेणियों में भी। और श्रम-विभाग की शूद्र श्रेणी में रथकार, कर्मकार,लुहार, कुम्भकार,चमार, स्वर्णकार इत्यादि सव श्रम-साध्य काम करने वालों के नाम आ जाते हैं। इसी प्रकार योरूप में भी Educational department (ब्राह्म विभाग) में काम करने

वाले Educationist (ब्राह्मण) श्रेणी के अन्तर्गत भिन्न भिन्न विद्याओं के पढ़ाने और प्रचार करने वाले Teacher (अध्यापक) Professor (आचार्य) Preacher (उपदेशक) Scientist (वैज्ञानिक) Mathematician (गणितज्ञ) Astronomer (ज्योतिषी) आदि: Civil और Military (क्षात्र), तथा (Commerce या Trade) (वाणिज्य) विभागों में भी इसी प्रकार मरचेन्ट, कान्ट्रेक्टर आदि नाम आ जाते हैं। Labour (श्रम) विभाग में काम करने वाली लेबर (शूद्र) श्रेणी के अन्तर्गत भी श्रम विशेष के नामानुसार श्रमिकों के नाम पड़ जाते हैं यथा Carpenter (बढ़ई) Black-smtih (लुहार) Gold-smith (सुनार) Cobler (चमार) Potter (कुम्भकार) आदि आदि।

अत्यन्त संक्षेप से यह कह सकते हैं कि यहाँ पर भी भारत के ही समान ब्रह्म,क्षात्र, वाणिज्य तथा श्रम अथवा Education Civil and Military, Commerce और Labour विभागों के अन्तर्गत लगभग सब प्रकार के काम करने वालों के नाम अपने अपने व्यवसायों के अनुकूल रख दिये जाते हैं। क्योंकि नामों के विना तो काम चल ही नहीं सकता। अतः यह कथन निरर्थक सा है कि योरोप में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य आदि नाम न होने पर भी काम चलता है।

पूर्व उद्धृत ऋग्वेद (१० ।६० ।१२) ब्राह्मणोस्यमुखमासीत् मन्त्र में परमार्थिक तथा व्यावहारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जिन २ कार्यों के करने की आवश्यकता थी उनको

सफलतापूर्वक करने के लिये मुख, बाहू, आदि शरीर के अङ्गों की भांति मनुष्य को मुख्यत: चार विभागों में विभक्त होकर अपनी २ योग्यता के अनुसार परस्पर भिन्न २ कामों को बाँट कर करने के लिये शिक्षा दी गई है क्योंकि न तो सब कामों को सब ही मनुष्य अच्छी प्रकार कर सकते हैं और न यह संभव है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताओंको स्वयं ही पूरा कर सके इसलिये उन्हें जीवन निर्वाह सम्बन्धी वस्तुओं की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि वह परस्पर एक दूसरे के सहयोगी बन कर एक दूसरे की सहायता करें और ऊपर लिखे यजु०-३०-५ में इन विभागों (Departments) के नाम ब्राह्म (Educational) क्षात्र (civil and Military) वाणिज्य (Commerce) तथा श्रम (Labour) और उनमें काम करने वाले कर्मचारियों अर्थात् ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के काम भी बता दिये हैं। इसके अतिरिक्त मंत्र मे महत्त्व की बात यह है कि उसमें राजा को आदेश दिया गया है कि वह उक्त विभागों को बनाये और उन में काम करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र संज्ञा वाले शिक्षित व्यवसायी (professional) कार्यकर्ता शिक्षा द्वारा उत्पन्न करे जैसा कि आजकल सभ्य राज्यों में Educational civil & Military, commerce, और Engineering या Labour के महकमे बनाये जाते हैं। आज भले ही संसार में इन महकमों को बनाना साधारण बात समझी जाय परन्तु सृष्टि के आरम्भ में वेद का राजा को उक्त विभाग

बना कर और उन में काम करने वाले ब्राह्मण (अध्यापक और उपदेशक) क्षत्रिय (प्रबन्ध कर्ता और रक्षक). वैश्य (व्यापारी) और शूद्र (शिल्पकार तथा कृषिकारादि) शिक्षित (Trained) कर्मचारी पैदा कर के राज्य—कार्यों को चलाने की शिक्षा देना कितनी आवश्यक और महत्त्व की बात है; इस को विचारशील सज्जन अनुभव कर सकते हैं।

मेरे पूर्वोक्त कथन के सम्बन्ध में उन पाठकों को जिनके वर्तमान अवैदिक वर्णव्यवस्था सम्बन्धी संस्कार दृढ़ बने हुये हैं यह संदेह हो सकता है कि यह मेरी *बिल्कुल* नवीन और *निराधार कल्पना* है कि ब्रह्म आदि चार विभाग (महकमे) हैं और उनमें काम करने वाले ब्राह्मणादि चार वर्ण व्यवसायी कार्यकर्ता हैं। ऐसे सज्जनों के सन्तोषार्थ मेरा निवेदन यह है।

(क) पूर्वोक्त चतुर्विभाग (Departments) और उनमें काम करनेवाले ब्राह्मणादि चार वर्णों का व्यवसायी होना न तो निराधार है और न ही मेरी नवीन कल्पना है क्योंकि पूर्वोक्त वेद मंत्र में ब्रह्म, क्षत्र, मरुत, और तप शब्द तथा उनसे सम्बन्धित कामों को करने वालों के नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी विद्यमान हैं। इसलिये उनका बुद्धिपूर्वक अभिप्राय यही हो सकता है कि पहले चार विभाग अर्थात् महकमे हैं और पिछले चार उनमें काम करने वाले व्यवसायी (professional) कार्यकर्ता हैं।

(ख) ब्राह्मणादि चारों वर्णों का व्यवसायी कार्य कर्ता होना

इस बात से भी सिद्ध है कि यजुर्वेद के अ० ३० के पीछे उद्धृत किये गये पांचवे मंत्र से लेकर अध्याय के अन्त तक प्राय. Professional लोगों का ही वर्णन है इसलिये ब्राह्मणादि चारों वर्णों का व्यवसायिक कार्यकर्ता होना प्रकरण के अनुकूल है।

(ग) उक्त अभिप्राय मेरी नवीन कल्पना भी नहीं है क्योंकि वेदों के परम विद्वान् महर्षि दयानन्द जी ने अपने वेद भाष्य में इस मंत्र का यह अर्थ किया है "हे राजन् ! ब्रह्म, क्षत्र, मरुत और तप के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को पैदा कर।" इस का अभिप्राय सिवाय इसके और कुछ नहीं हो सकता कि ब्राह्मादि विभागों अर्थात् सद्कर्मों में काम करने के लिये ब्राह्मणादि शिक्षित कार्य कर्त्ताओं को पैदा कर। राजा ब्राह्मणादि का पहला जन्म देने वाला नहीं हो सकता इसलिये "पैदा कर" इस का अभिप्राय भी यही हो सकता है कि हे राजन् ! मनुष्यों को द्विजन्मा बनाकर शिक्षा द्वारा शिक्षित बना ताकि वह अध्यापक उपदेश या प्रचार, प्रबन्ध, रक्षा, व्यापार और शिल्पकारी आदि के कार्य अच्छी प्रकार कर सकें। इससे स्पष्ट है कि वेद मंत्र का जो अभिप्राय मैंने निकाला है वही महर्षि के भाष्य से निकलता है और सत्य तो यह है कि मैंने तो महर्षि दयानन्द जी के वेद भाष्य से ही इस अभिप्राय को लिया है।

(घ) पीछे वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध किया जा चुका है और इसके लिये आगे भी प्रमाण दिये गये हैं कि

मानवीय जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले कार्यों को सफलता पूर्वक करने के लिये ही वैदिक वर्ण व्यवस्था की आयोजना की गयी है। चूंकि मानवीय जीवन की आवश्यकताओं में मुख्य आवश्यकता मनुष्य की आजीविका है जिस पर उसका जीवन निर्भर है इसलिये जो मनुष्य जिस वर्ण के जिस कार्य को आजीविका के लिये करता है अथवा जो कार्य जिस मनुष्य की आजीविका का साधन है वह उसका व्यवसाय (पेशा) है और उस कार्य के करनेवाला व्यवसायी अथवा पेशावर है। जैसे पढ़ाना, उपदेश करना, ब्राह्मण का; प्रबन्ध और रक्षा करना क्षत्रिय का व्यापार करना वैश्य का और अन्नादि उत्पन्न करना तथा अस्त्र, शस्त्रादि बनाना शूद्र का व्यवसाय (पेशा) है क्योंकि यह कार्य उनकी आजीविका के साधन हैं। इसलिये इन व्यवहारों के करने वाले ब्राह्मणादि चारों वर्ण, वर्ण की दृष्टि से व्यवसायी अथवा पेशावर कार्यकर्ता हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

(ड) मेरे उक्त कथन का समर्थन मनुस्मृति के निम्न श्लोकों में भी होता है—

षण्णान्तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः।

मनु० १० |७६

अर्थात् ब्राह्मण के ६ कर्मों में से यज्ञ कराना, पढ़ाना और शुद्ध दान लेना ये तीन कर्म आजीविका के लिये हैं।

शस्त्रास्त्रभृत्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः॥ (८

मनु० १० । ७६

अर्थात् क्षत्रियों का शस्त्र अस्त्र धारण करना, वैश्यों का गाय, बैल और खेती का व्यापार करना यह कर्म दोनों के आजीवनार्थ है और दान देना, पढ़ना तथा यज्ञ करना (तीनों वर्णों का) धर्म कहा है।

इन श्लोकों से स्पष्ट विदित है कि वेद पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना तीनों वर्णों का एक समान धार्मिक कर्त्तव्य है इस लिये धार्मिक अथवा आचार की दृष्टि से उन में परस्पर कोई भेद नहीं है परन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की आजीविका के साधन भिन्न २ हैं और उन्हीं कार्यों के करने से उनमें वर्ण भेद होता है इस से स्पष्ट है कि वर्णात्मक भेद का कारण उनकी आजीविका के साधनभूत कार्य ही हैं। अतः ऐसे प्रमाणों की विद्यमानता में वर्णों का वर्णात्मक दृष्टि से व्यावसायिक कार्यकर्ता मानना अनिवार्य है।

इस मंत्र से यह भी निश्चित हो जाता है कि वर्तमान वर्ण व्यवस्था का जो जन्ममूलक भयानक रूप है और जिसने वैदिक वर्ण व्यवस्था की सामाजिक उपयोगिता को ही नष्ट नहीं किया बल्कि वर्ण व्यवस्था को सामाजिक संगठन का विनाशक बना दिया है यह वैदिक नहीं बल्कि अवैदिक है क्योंकि ब्राह्मणत्व (अध्यापकत्व उपदेशकत्व), क्षात्रत्व, वैश्यत्व और शूद्रत्व जन्ममूलक नहीं है बल्कि

शिक्षा द्वारा प्राप्त किये जाते हैं और यह बात प्रत्यक्ष भी है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कुल में उत्पन्न होने वालों में भी पढ़ाने, रक्षा करने, व्यापार करने तथा शिल्पकारी करने की योग्यता जन्म-सिद्ध नहीं होती बल्कि द्विजन्मा होने अथवा इन की शिक्षा प्राप्त करने से ही होती है। इस मंत्र और ऋषिकृत अर्थ में और वर्णों की भाँति शूद्र को भी द्विजन्मा बनने का अधिकार है और शूद्रत्व अथवा शूद्र वर्ण का नाम भी द्विज बनने पर ही प्राप्त हो सकता है।

मंत्र से यह भी विदित है कि ब्राह्मणादि वर्णों का निर्माण अथवा वर्ण व्यवस्था की आयोजना मानव-जाति की जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु भिन्न २ कार्यों को सम्पादन करने के लिये ही की गयी है, आचार विभिन्नता की दृष्टि से मानव जाति के विभाग बनाने के लिये नहीं। इसलिये वर्ण आचारमूलक भी नहीं हैं कार्यमूलक हैं।

वर्णों का क्रियात्मक निर्माण

अब तक वेद के सिद्धान्तात्मक वर्णन करने वाले वेदमन्त्रों तथा तदनुकूल अन्य प्रमाणों से वर्णों के चार विभागों तथा उनके कार्यों का दिग्दर्शन कराया गया है। अब यह दर्शाया जाता है कि सृष्टि के आरम्भ में वर्णों का क्रियात्मक निर्माण किस प्रकार किया गया। क्योंकि क्रियात्मक वर्णन इतिहास की वस्तु है अतः वह वेद में नहीं बल्कि ऋषि-कृत ग्रन्थों में ही हो सकता है। इसलिए सबसे पुरानी बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की ११-१२-१३ कण्डकाओं में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

१—ब्रह्म वा इदमाग्रऽआसीदेकमेव तदेकं सन्नव्यभवत्। तच्छ्रेयो-रूपमत्यसृजत् क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणिन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्य यमो मृत्युरीशान इति ॥११॥

अर्थात्—सृष्टि के आरम्भ में एक ब्राह्मण वर्ण ही था। वह एक होने के कारण (लौकिक व्यवहार की सिद्धि में) समर्थ न हुआ। इसलिये उसने एक और उत्तम वर्ण क्षत्रिय को बनाया। देवों में यह क्षत्रिय हैं इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान।

स नैव व्यभवत्स विशमसृजत् यान्येतानि देवजातानि गणशः आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत् इति ॥१२॥

अर्थात्—जब वह (ब्राह्मण वर्ण) फिर भी (लौकिक व्यवहार-सिद्धि में) समर्थ न हुआ तब उसने वैश्य-वर्ण को बनाया। देवताओं में वैश्य वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण, विश्वेदेवागण और मरुतगण के नाम से प्रसिद्ध हैं॥

सनैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किंच ॥१३॥

अर्थात्—वह (ब्राह्मण वर्ण) फिर भी (व्यवहार-सिद्ध में) कृतकार्य न हो सका तब उसने शूद्रवर्ण की सृष्टि की। देवताओं में शूद्र कौन है यह पूषण (पृथिवी) ही शूद्र है (जो पोषण करे [पाले] उसे पूषण कहते हैं)। क्योंकि इस समस्त चराचर जगत् का अपने अन्न फलादि वस्तुओं की उत्पत्ति द्वारा पालन करने वाली पृथिवी ही है इसलिये ही उसे पूषण कहते हैं। मनु अध्याय १ श्लोक ३१ का भी यही अभिप्राय है।

उपनिषद् के उक्त वाक्यों में बतलाया गया है कि सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न किये गये मनुष्यों का एक ही ब्राह्मण वर्ण था और वह एक ही होने के कारण लौकिक व्यवहारों की सिद्धि में समर्थ न हुआ। इसलिये उसने ईश्वर रचित प्राकृतिक दिव्य जगत् के इन्द्र वरुण वसु आदित्य तथा पृथिवी आदि पदार्थों के भिन्न-भिन्न कार्यों को देख कर वेद प्रदर्शित अध्यापन तथा प्रबन्धादि कार्यों को क्रियात्मक रूप में लाने के लिये अपने में से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों को बनाया। अर्थात् व्यवहार सिद्धि के कार्यों को परस्पर चार विभागों

में बांट लिया। जिन्होंने सर्व प्रकार की विद्याओं के पढ़ाने और प्रचार तथा प्रसार करने का काम लिया। वह ब्राह्मण, जिन्होंने राज्यप्रबन्ध और रक्षा करने का कार्य लिया वह क्षत्रिय, व्यापार कार्य लेने वाले वैश्य और जिन्होंने पृथिवी के समान मानव जाति के पालन-पोषण के लिए अन्न वस्त्रादि वस्तुओं की उत्पति तथा गृह निर्माण और अस्त्र शस्त्र बनाने आदि शिल्पी कार्यों का करना स्वीकार किया वह शूद्र कहलाए।

व्याख्या—उपनिषद् के पूर्वोक्त विवरण से निम्नलिखित बातों का बोध होता है।

(क) एक ही ब्राह्मण वर्ण बल्कि पहले तीनों वर्ण भी मानव जाति के लौकिक व्यवहारों की सिद्धि में समर्थ नहीं हो सकते। क्योंकि भिन्न २ कार्यों को सम्पादन करने के लिए मुख्यतया चार वर्णों का होना अनिवार्य है अथवा इस प्रकार भी कह सकते हैं कि कोई भी मनुष्य अपनी मानवीय जीवन की सारी आवश्यकताओं को अकेला पूरा नहीं कर सकता इस लिए सब मनुष्यों को परस्पर सहयोगी तथा परस्पर सहायक बनकर मानव जीवन सम्बन्धी सर्व वस्तुओं की उत्पत्ति और कार्यों की सिद्धि आपस में बांट कर करनी चाहिए।

(ख) वर्णों में वर्ण की दृष्टि से कोई उत्तम कोई नीच कोई पवित्र कोई अपवित्र कोई छूत या अछूत नहीं है। क्योंकि उपनिषद् के उक्त कथन के अनुसार सब ही वर्ण आदि ब्राह्मणों (दिव्य मनुष्यों) अथवा एक ही आचार विचार वाले

मनुष्यों से बने हैं। मनु० अ० ६ श्लो० ३२० में भी यही कहा है कि क्षत्रिय वर्ण ब्राह्मणों से ही उत्पन्न हुए हैं अथवा यह भी कि चारों वर्णों में काम करने वालों को जहां अपने अपने वर्णात्मक कार्य में दक्ष होना चाहिए वहां उन्हें आचारसम्पन्न भी होना चाहिये।

(ग) एक ही व्यवसाय के करने वालों में कार्य की दृष्टि से तुलना—अथवा उत्तम, मध्यम, निकृष्ट का भेद हो सकता है। भिन्न कार्य के करने वालों में कोई तुलना अस्वाभाविक और असम्भव है। जैसे एक अध्यापक और इञ्जीनियर में उत्तम मध्यम का भेद नहीं किया जा सकता। मनुस्मृति के निम्न श्लोक से भी इसका समर्थन होता है :—

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदंगं विशिष्यते।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन्श्रेष्ठमुच्यते॥ म० ६—२६७

अर्थात् —उन उन कामों में वही २ अंग बड़ा है जिस जिस से जो जो काम सिद्ध होता है वह उसमे श्रेष्ठ कहाता है।

(घ) वर्णों का आपस का वर्णात्मक भेद न तो जन्मसिद्ध जातिगत भेद है और न ही आचारमूलक व्यक्तिगत भेद, अपितु कार्यमूलक अथवा व्यवसायिक (Professional) भेद है।

(ङ) उक्त वाक्यों से यह भी व्यक्त होता है कि वर्णों में आजीविका की सिद्धि के लिये वही कार्य करने चाहियें जोकि लौकिक व्यवहारों की सिद्धि के (धर्मानुकूल) कारण हों। और उन्हें, आजीविका के लिये ऐसे कार्य करने की आज्ञा नहीं है

जोकि धर्मविरुद्ध और लौकिक व्यवहारों की सिद्धि के बाधक हों।

(च) शूद्र वर्ण जगत् का पालन पोषण करने वाली पृथिवी माता के समान है क्योंकि उसके श्रम से (तप से) उत्पन्न हुए अन्न, वस्त्र और बनाई हुई वस्तुओं से मानव संसार का पालन पोषण होता है।[१]

बृहदारण्यक उपनिषद् के ऐतिहासिक वर्णन का समर्थन महाभारत आदि के निम्न प्रमाणों से भी होता है :—

न विशेषोऽस्ति वर्णानाम् सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्राह्मणा पूर्व सृष्टंहि कर्मभिर्वर्णता गतम् ॥१०॥ म. भा. शा. अ. १८८ ।

अर्थात्—वर्णों में कोई विशेष (ऊंच नीच आदि भेद) नहीं है क्योंकि प्रथम ब्रह्म से उत्पन्न किये हुए सब मनुष्य सत्व प्रधान होने से ब्राह्मण ही थे। फिर कार्य भेद से भिन्न भिन्न वर्ण बन गये।

महाभारत के दूसरे स्थान में भी लिखा है—

एकं वर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर: ।।
कर्मक्रियाविभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम् ॥ महाभारत

अर्थात् हे युधिष्ठिर ! इस जगत् में प्राचीन काल में एक ही वर्ण था परन्तु कार्यों के विभाग के पश्चात् चारों वर्णों की स्थापना हुई।

१—पूर्वोक्त ऐतिहासिक प्रमाण शूद्रों के आर्य होने और शूद्र वर्ण की उपयोगिता तथा महत्त्व का प्रबल प्रमाण है।

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्व वाङ्‌मयः ।
देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥ भागवत पु० स्कं० ६-१४

अर्थात् अत्यंत प्राचीन काल (वैदिक काल) में संसार के पुस्तकालय में एक ही वेद, एक ही मन्त्र प्रणव (ओ३म्) का जाप, एक ही देव सर्व व्यापक नारायण, एक ही अग्नि और एक ही वर्ण था ।

इन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि वर्णों में कोई उत्तम मध्यम अथवा निकृष्ट नहीं है केवल भिन्न २ कार्यों के करने से वर्ण भेद हुआ है। यहा कर्मों से अभिप्राय उन कार्यों से है जो कि आजीविका और लौकिक व्यवहार-सिद्धि के लिए किये जाते हैं न कि श्रेष्ठ और दुष्ट कर्मों से। क्योंकि धर्माचरण तो चारों वर्णों के लिए एक ही समान है।

अब यहां पर राष्ट्रीय संगठन की विघातक वर्तमान समय की कल्पित जात पात से तंग आए हुए सज्जन यह शंका कर सकते हैं, अपितु करते भी हैं, कि पूर्वोक्त वर्ण विभाग की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार स्वयं ही अपने लिए काम चुन सकता है जैसा कि आजकल क्रियात्मक रूप से हो रहा है परन्तु यह सज्जन इस बात को भूल जाते हैं कि सृष्टि के आरम्भ मे उत्पन्न हुये मनुष्यों के लिये न तो वर्तमान समय की भांति शिक्षा का कोई प्रबन्ध था और न ही उनके सामने किसी प्रकार के क्रियात्मक नमूने थे जिन को देख कर वह अपने लिये काम चुन।

सकते । इसलिये उनको पथप्रदर्शन की अत्यंत आवश्यकता थी। यह वेद ने सिद्धांत रूप से और वेदज्ञ ऋषियों ने क्रियात्मक रूप से पूरी की। जिससे शिक्षित होकर अपनी २ योग्यता और रुचि के अनुसार काम करने लग गये और करते चले आ रहे हैं। यदि ईश्वर प्रदत्त वेद और वैदिक ऋषि न होते तो संसार में वर्तमान विद्याओं का अस्तित्त्व ही न होता क्योंकि इस बात के लिये कोई प्रमाण नहीं है कि ज्ञान की क्रमशः उन्नति होती है और मनुष्य विना सिखलाए पढ़ाये विद्वान् वन सकते हैं। ज्ञान की क्रमशः उन्नति होने की जांच के लिये जितने प्रयोग किये गये हैं उनसे यही सिद्ध हुआ है कि यह मन्तव्य भ्रांत है इसके अतिरिक्त निमित्त विशेष से ज्ञान की क्रमशः उन्नति भी उसी वस्तु में मानी जा सकती है जो कि स्वरूप से चैतन्य हो अथवा जिसमें प्रथम किसी मात्रा में ज्ञान का अस्तित्व हो। इसलिये ज्ञान-शून्य जड़ प्रमाणुओं के विशेष संयोग से ज्ञान की उत्पत्ति मानना बुद्धि संगत नहीं है और इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है क्योंकि जड़ प्रमाणुओं में ज्ञान का अभाव प्रत्यक्ष है। और अभाव से भाव वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

इससे भी बढ़कर विकास सिद्धान्त में मौलिक दोष यह है कि उस में ज्ञान की क्रमशः उन्नति बन ही नहीं सकती क्योंकि क्रमशः उन्नति करने वाला चेतन जीवात्मा है और विकासवादी जीवात्मा को चार भूतों (वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) के कार्य शारीरिक संयोग से उत्पन्न हुआ मानते हैं। इसलिए भूतों के

संयोग से उत्पन्न होने वाला जीवात्मा युवा अवस्था अथवा उसी समय तक ही उन्नति कर सकता है जब तक शरीर में क्षीणता अथवा वृद्धावस्था का आरम्भ नहीं हुआ जब शरीर में क्षीणता का आरम्भ हो गया तब जीवात्मा में भी क्षीणता का आरम्भ हो जाएगा और वृद्ध अवस्था में क्षीणता बढ़ती चली जाएगी। यहां तक की भूतों के संयोग की अदृढ़ता और वियोग (मृत्यु) पर जीवात्मा का भी अन्त हो जायेगा। क्योंकि जो चेतनत्व अथवा जीवात्मा भूतों के संयोग से उत्पन्न हुआ था भूतों के वियोग पर उसका नाश होना अनिवार्य है और जीवात्मा की हुई उन्नति का नाश भी अवश्य हो जायेगा। मेरे उक्त वर्णन से दो बातों की सिद्धि होती है। एक क्रमशः उन्नति के पश्चात् क्रमशः अवनति भी लाजमी है। द्वितीय उत्पन्न होने वाले जीवात्मा के अनित्य होने से उसकी की हुई उन्नत्ति भी अनित्य है। इसलिये विकास वाद का यह मन्तव्य असत्य है कि सृष्टि के आरम्भ से ज्ञान की क्रमशः उन्नति होती चली आ रही है। अतएव क्रमशः उन्नति जीवात्मा को अनादि नित्य मानने वाले वैदिक सिद्धान्त के अनुसार ही बन सकती है अन्यथा नहीं। क्योंकि नित्य जीवात्मा ही जन्म जन्मान्तरों में धर्मानुकूल प्रयत्न करता हुआ अभ्युदय-पूर्वक मोक्ष प्राप्ति तक क्रमशः उन्नति कर सकता है।

यदि यह कहा जाये कि मृत व्यक्ति की की हुई उन्नति से जीवित मनुष्य लाभ उठाकर उससे आगे उन्नति करते हैं, इस प्रकार क्रमशः उन्नति का क्रम जारी रहता है तो इसका उत्तर यह

है कि प्रथम तो यह सिद्धान्त सार्वजनिक नहीं हो सकता। क्योंकि बहुत से उन्नतिशील व्यक्ति अपनी मृत्यु से पूर्व न कुछ लिख जाते हैं और न ही किसी को कुछ सिखला जाते हैं और चल देते हैं। इस प्रकार उनकी की हुई ज्ञान की उन्नति उनके साथ ही खतम हो जाती है और यदि विचारार्थ इसे ठीक भी मान लिया जाए तो इससे विकास-सिद्धान्त के विरुद्ध यह सिद्ध होगा कि मनुष्य क्रमशः उन्नति तभी कर सकता है जब कि पहले उसको कुछ पढ़ाया सिखलाया जाये। इसके सिद्ध होने हर यह भी सिद्ध हो जायेगा कि आदि सृष्टि में उत्पन्नहोने वाले ऋषियों ने तभी उन्नति की थी जब कि उन्हें शब्दार्थ सम्बन्ध रूप ज्ञान-वेद, ईश्वर की ओर से मिले थे। क्योंकि उस समय सिवाए भगवान के और कोई पढ़ाने और सिखाने वाला नहीं था। यही बात योग दर्शन, और महाभाष्य के कर्त्ता ऋषिवर पातञ्जली मुनी ने अपने शब्दों में इस प्रकार कही है।

"स पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानवच्छेदात्॥ या: १-२६॥

अर्थात्—वह ईश्वर सबसे पूर्व उत्पन्न होने वाले ऋषियों (अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा) का भी गुरु है। काल से अपरिछिन्न अथवा अनादि अनन्त होने से इसके अतिरिक्त वेद-मन्थ में जो मुख्य चार विभागों (Department) और उनमे काम करने वाले ब्राह्मणादि वर्णों (पेशों) का वर्णन किया गया है उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र भिन्न२ जातियां हैं अथवा उनके भिन्न२ वंश बन जाएं

जैसा कि दुर्भाग्य से, इस समय बने हुए हैं और वह जन्म से ही एक दूसरे को पवित्रापवित्र, ऊंच-नीच और छूत अछूत समझ कर आपस में द्वेष घृणा और झगड़े करने में लगे हुये हैं बल्कि इसके विपरीत पूर्वोक्त प्रमाणों से तो यह सिद्ध होता है कि चारों वर्णों के व्यक्ति अपने २ कार्य की दृष्टि से एक ही मानव जाति अथवा आर्य राष्ट्र के वैसे ही भिन्न २ अंग हैं जैसे मानव शरीर के मुख बाहु आदि अवयव और वह एक ही पिता के पुत्र एक घर में रहने वाले व्यक्ति भी हो सकते हैं जैसे कि आजकल एक ही पिता के पुत्र अध्यापक (ब्राह्मण) प्रबन्धकर्ता तथा सैनिक (क्षत्रिय) व्यापारी (वैश्य) शिल्पकार (शूद्र) और डाक्टर होते हैं और एक ही घर में रहते हैं और अपने २ कार्यों की दृष्टि से मास्टर आदि कहलाते हैं।

कार्य और आजीविका

आज कल संसार में आजीविका का प्रश्न बहुत जटिल और आवश्यक बना हुआ है। इस समस्या को सुलझाने के लिए भारत में भी उन ही विदेशी साधनों का उपयोग किया जा रहा है जो कि विदेशों में असफल सिद्ध हो चुके हैं और भारत के लिये भी उपयोगी नहीं हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

जिनके पास अन्नादि सम्पत्ति अपनी आवश्यकता से अधिक हैं, उनसे येनकेन लेकर अर्थात् बलात्कार, अधिक से अधिक टैक्स लगा कर अथवा देश की सारी सम्पत्ति राजकीय बना कर प्रजा को बांट कर दी जाये इत्यादि, रूस में इनका प्रयोग भी किया गया है परन्तु वहां पर भी यह सफल सिद्ध नहीं हुई। क्योंकि उक्त साधन निम्नलिखित दोषों के कारण दूषित है।

(१) जो मनुष्य कर्म करता है उसका फल भोगने का वही अधिकारी है परन्तु उक्त साधन व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बाधक है क्योंकि इसमें कर्म अथवा पुरुषार्थ करने वाला और है और उसके किये हुये पुरुषार्थ से लाभ उठाने वाला और। अतः यह साधन न्याय तथा मानवीय प्रकृति के विरुद्ध है। और मनुष्य की जन्म सिद्ध स्वतन्त्रता में मन माने नियम बना कर हस्तक्षेप करने से प्रजा में असन्तोष फैलता है। जिससे विद्रोह होने की सम्भावना होती है।

(२) अपवाद में छोड़ कर इस नैसर्गिक सत्य से इन्कार करना अपने आप को धोका देना है कि मनुष्य अपनी आजीविका के तथा लाभ के लिए जितना यत्न करते हैं, उतना दूसरों के लिये नहीं। अतः यदि बलात् सम्पत्ति ले लेने का कोई नियम बना भी दिया जाये तो यह निश्चित है कि अन्नादि उत्पन्न करने वाले किसान और अन्य सम्पत्तिवान् उतनी ही अन्नादि वस्तुयें उत्पन्न करेंगे जितनी कि उनको अपने लिये जरूरत है, अधिक नहीं।

(३) बुद्धिमान् उद्योगी मनुष्य अपने वार्षिक निर्वाह से अधिक अन्नादि सम्पत्ति के एकत्रित करने का यत्न इसलिये भी करते हैं कि यदि आगामी वर्षों में वर्षा न होने से अन्नादि की उत्पत्ति न हुई, अथवा व्यापार या रोजगार न रहा, या बीमार हो गये तो एकत्रित की हुई सम्पत्ति से अपने परिवार का निर्वाह करेंगे।

(४) यदि यह नियम बना दिया जाये कि अन्नादि सम्पत्ति का मालिक राज्य होगा तो उत्पादकों का उत्साह और पुरुषार्थ मंद पड़ जायेगा जिसका परिणाम यह होगा कि देश में पुरुषार्थहीन व आलसियों की संख्या बढ़ जायेगी। जिससे देश की सम्पत्ति घट जायेगी और प्रजा भिकारी हो जायेगी, इत्यादि २। अतः भारत में आजीविका की समस्या को सुलझाने के लिए वेदादि सत् शास्त्रों ने जो साधन बताये हैं वे उक्त साधनों से अत्यन्त उत्तम हैं। उनका कुछ वर्णन नीचे किया जाता है।

(१) यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र २ में यह आदेश किया गया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्शतꣳ समाः ।

अर्थात् मनुष्य कार्य करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य लौकिक व्यवहार सिद्धि के जिन कामों की योग्यता रखते हैं वे उस काम को आयु भर अवश्य करते रहें कोई भी वेकार न रहे, क्योंकि वेकारी सब पापों की मूल है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' अर्थात् भूखा आदमी कौन सा पाप नहीं करता ? ऋग्वेद में लिखा है:—

तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा ।

आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्र्वम् ॥ ऋ० ७।३२।२०

अर्थात् कर्मों के करने में शीघ्रता करने वाले सुकर्म-सेवी जन ही सदा सहायक महती बुद्धि और क्रिया द्वारा उत्तमोत्तम धन प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार बढ़ई उत्तम काष्ठ-युक्त चक्र को नम्र करता है।

मनुस्मृति में आया है :—

कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते । मनु० ६।३००

अर्थात कामों को करते रहने वाले पुरुष को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है।

(२) वैदिक वर्ण व्यवस्था की आयोजना भी इस उद्देश्य से ही की गई है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता और रुचि के

अनुसार लौकिक व्यवहार-सिद्धि के काम करता रहे और उनसे उसकी आजीविका भी सिद्ध हो। यजुर्वेद अध्याय अध्याय १ श्लोक ८७ में भी इस प्रकार वर्णन किया गया है—

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ मनु० १।८७

अर्थात् उस महाता तेजस्वी (भगवान) ने सब सृष्टि की रक्षा के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र के कर्मों को पृथक्-पृथक् बतलाया।

मनु० अध्याय १० श्लोक ७४ से ८० तक में चारों वर्णों के परमार्थ और आजीविका सिद्धि के कामों का वर्णन है। जिनका पूरा वर्णन इस पुस्तक में अन्यत्र किया गया है। इस लिये यहां पर उसके दोहराने की आवश्यकता नहीं। इतना ही नहीं कि वेदादि शास्त्रों में मनुष्य के कर्मण्य बनने का उपदेश किया गया है अपितु यह शिक्षा भी दी गई है कि वह श्रेष्ठ कार्यों से ही आजीविका की सिद्धि करे दुष्ट कार्यों से नहीं। यथा—
न दुष्टतो मर्त्यो विन्दते वसु न स्रेधन्तं रयिर्नशत्।
सुशक्तिरिन्मघवन्तुभ्यं मावते देष्णं यत्पार्ये दिवि॥ ऋ० ७।३२।२१

अर्थात् मनुष्य दुष्टकर्मों से धनलाभ नहीं कर सकता। हिंसक पुरुष को भी अभीष्ट धन की प्राप्ति नहीं होती लोक और परलोक सम्बन्धी उत्तम धन को सुकर्मा और उद्योगी पुरुष ही प्राप्त करता है। मनुस्मृति में भी लिखा है—

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि॥ मनु० ४।२

अर्थात् जिस वृत्ति से दूसरे जीवों को दुःख न हो अथवा अल्प दुःख हो ऐसी वृत्ति को धारण करके आपत्ति-रहित काल में विद्वान जीवन का निर्वाह करे। इससे आगे श्लोक ३ में लिखा है कि मनुष्य प्राण-रक्षण, शास्त्रानुसार कुटुम्ब-पोषण और निष्कर्मानुष्ठान के लिए अपने अनिन्दित कर्मों से धन-संचय करे।

मनु० अध्याय ११ में बड़े बड़े यन्त्रों का चलाना भी पातक बताया है यथा —

सर्वाकरेष्वधिकारो महा यन्त्र प्रवर्तनम्।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारोमूल कर्मच॥ मनु. ११-६३

अर्थात् सुवर्ण आदि की सम्पूर्ण कानों पर व्यक्तिगत अधिकार होना बड़े बड़े यन्त्रों (मशीनों) का चलाना, औषधियों का काटना आदि को पातक बताया है। इससे विदित होता है कि मनु काल में थोड़े समय मे, थोड़े आदमियों से अधिक से अधिक काम करने वाले महा यन्त्रों का चलाना पातक समझा जाता था। क्योंकि इनसे श्रमजीवी श्रेणी के बहुत से लोग बेकार हो जाते हैं, और आजीविका के न रहने पर उन्हें दुःख पहुंचता है। तथा यन्त्रपति आवश्यकता से अधिक धनवान (Capitalist) हो जाता है। बड़े-बड़े यन्त्रों के निषेध से अर्थापत्ति द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि छोटे-छोटे यन्त्र (cottage

Industries=घरेलू सनअत) जारी किये जायें। जिनको जन-साधारण भी लगा और चला कर अपने अपने कुटुम्ब की आजीविका को उत्पन्न कर सकें। और देश के कच्चे माल को पक्के माल का रूप देकर देशवासियों की आवश्यकताओं को पूरा करें तथा देश की सम्पत्ति को बढ़ायें ऐसे प्रबन्ध से जहां पूंजीपति और श्रमजीवी की समस्या हल होगी वहां सब के लिये काम और आजीविका का उचित प्रबन्ध भी हो जायेगा।

क्योंकि भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है इस लिये मनु ने किसानादि की आर्थिक अवस्था को अच्छा बनाने के लिये यह उपाय बताया है।

बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्र दोष गुणस्य च।
मानयोगं च जानीयात्तुला योगांश्च सर्वशः॥ ३३०
सारासारंच भाण्डानां देशानाञ्च गुणागुणान्।
लाभालाभञ्च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम्॥ ३३१
भृत्यानाञ्च भृत्तिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम्।
द्रव्याणांस्थानयोगांश्च क्रय विक्रयमेव च॥ ३३२
धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्!
दद्याच्च सर्व भूतानामन्नमेव प्रयत्नतः॥ ३३३
मनु० अध्याय ९ श्लोक ३३०, ३३१, ३३२, ३३३॥

अर्थात्—अन्न आदि सब प्रकार के बीजों के बोने की विधि और खेतों के गुण दोष और सब प्रकार के माप तोल के जानने वाला भी (वैश्य) हो। (३३०) अन्न के अच्छे बुरे

रा हाल, और देशों में सस्ते महंगे तथा बिक्री की लाभ हानि का वृत्तान्त और पशुओं की वृद्धि के उपाय भी वैश्य जाने (३३१)। नौकरोंकी तनखाओं तथा नाना देश के मनुष्यों की बोली और माल के रखने की विधि तथा बेचने खरीदने का ढंग भी वैश्य को जानना चाहिए ।(३३२) वैश्य धर्म से धन बढ़ाने में पूरा यत्न करे और सब प्राणियों को य न पूर्वक अन्न अवश्य पहुंचावें ३३३ ।

इन श्लोकों का अभिप्राय स्पष्ट है कि किसानों से काम लेने वाले लोगों (वैश्यों) को कृषि-विद्या का भा विशेषज्ञ होना चाहिए और कृषि विद्या द्वारा किसानों की आजीविका और आर्थिक उन्नति का पूर्ण यत्न करना चाहिए। क्योंकि सारे किसान कृषि-विद्या के विशेषज्ञ नहीं हो सकते इसलिए यह काम वैश्यों के जिम्मे लगाये गये हैं। यह भी पूंजीपति और श्रमजीवी की समस्या का एक हल है। सम्भव है कि मनु ने उक्त (३३३ वें) श्लोक में वैश्य को यत्न पूर्वक धन कमाने की जो शिक्षा दी है वह आजकल के साम्यवादियों को अच्छी मालूम न हो और वे यह कहें कि मनु ने वैश्यों को पूंजीपति बनने की शिक्षा दी है। परन्तु यदि विचार पूर्वक देखेंगे तो उन्हें ज्ञात होगा कि मनु ने वैश्यों को जो शिक्षा दी है वह उनके लिये अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि वैश्य बिना पूंजी के न तो उन जिम्मेदारियों को पूरा कर सकते हैं जोकि मनु ने उनके जिम्मे लगाई हैं और न ही वे पूंजी के बिना व्यापार कर सकते हैं। और यदि देश में व्यापार करने वाले व्यापारी न हों तो देश समृद्धिशाली नहीं बन

सकता। इन धनवान् व्यापारियों से ही कर के रूप में राज्य को प्रचुर मात्रा में धन मिलता है जिससे राज्य के कार्य चलते हैं। रुपया भी एक शक्ति है। जिस देश में रुपया न हो वह शक्तिहीन होगा। जैसा कि आजकल भारत देश है। आज संसार के अमेरिका आदि शक्तिशाली देश सारे संसार में अपने व्यापार को फैलाना चाहते हैं। यदि उनके पास पूंजी न हो तो वे अपने व्यापार को कैसे फैला सकते हैं। वस्तुतः इस व्यापार द्वारा ही वे शक्तिशाली बने हैं। एक ओर तो यह कहा जाता है कि भारत सब देशों से कंगाल देश है। उसमें मनुष्य की औसत आमदनी अढ़ाई रुपये मासिक है। और दूसरी ओर जिनके पास चार पैसे हैं। उन्हें पूंजीपति कह कर कोसा जाता है। यह मनोवृत्ति देश के व्यापार के लिये अत्यन्त हानिकारक है। मनु ने जहां वैश्यों को धन की वृद्धि की शिक्षा दी है वहां यह भी कह दिया है कि वह धन धर्म पूर्वक कमायें, जिससे दूसरों को हानि न पहुंचे।

अपितु वैश्यों को इस बात का जिम्मेदार ठहराया गया है कि वह कृषि तथा पशु-पालन की विद्याओं से विशेषज्ञ होकर अन्न आदि वस्तुओं की उपज तथा गाय आदि पशुओं की वृद्धि के लिये किसानों के पथ-प्रदर्शक और सहायक बनें। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारत में मुख्य सम्पत्ति रुपया नहीं बल्कि अन्न वस्त्र तथा पशुओं को ही समझा जाता था। जो कि मुख्य रूप से मानवीय जीवन के आधार हैं। इसलिए जिसके पास

यह वस्तुएँ होती थीं वह ही सम्पत्तिवान समझे जाते थे । मुद्रा अथवा रुपया तो प्रायः वैश्यों की सम्पत्ति (पूंजी) होती थी जोकि दूसरे देशों से व्यापार करते थे । क्योंकि मुद्राद्वारा ही वस्तुओं के खरीदने और वेचने मे सुविधा होती है । वैश्य की भी मुख्य सम्पत्ति अन्न, वस्त्र आदि पदार्थ ही होते थे जिनकी देशवासियो को जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक्ता होती थी । परन्तु यह अन्न आदि वस्तु रूप सम्पत्ति स्थिर नहीं वल्कि अस्थिर होती है । क्योंकि रुपयो की भांति इस सम्पत्ति को अधिक काल तक अपने पास नहीं रख सकते । कारण यह कि जहां इसके सड़ अथवा खराव हो जाने का भय होता है वहां इसके जमा रखने में यह भी भय होता है कि यदि आगामी वर्षो मे अन्न आदि वस्तुओं की उपज अधिक होने से उनके सस्ता होने पर वेचने मे नुकसान उठाना पड़ेगा, और पुरानी चीजों को कोई पसन्द भी नहीं करेगा । यदि अब भी अन्न आदि वस्तुओं को मुख्य और रुपयों को गौण सम्पत्ति कर दिया जाय तो किसान भी सम्पत्तिवान् बन सकते हैं और पूंजीपतियों तथा श्रमजीवियों की समस्या हल भी हो सकता है । पूंजीपतियों को कोसने से श्रमजीवियों को कोई लाभ नहीं पहुंच सकता ।

अब प्रश्न यह होता है कि उक्त उपायो के होने पर भी जिनको काम न मिले वह क्या करें ? इसका उत्तर मनु अ० ८ मे यह दिया है ।

वैश्य शूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ।
तौहि च्युतौ स्वकर्मभ्य, क्षोभयेतामिदं जगत् ॥४१८

अर्थात्—वैश्यों और शूद्रोंसे प्रयत्न पूर्वक राजा उनके अपने कर्म करावे। जिसके पास काम न हो उनके लिये काम का प्रबन्ध करे क्योंकि उसके बेकार होने से चोर और डाक बढ़जाते हैं और अशान्ति फैल जाती है। मनु के निम्न श्लोकों से भी उक्त अभिप्राय का समर्थन होताहै —

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम्॥ मनु० ७।१४१
विक्रोशन्त्योयस्यराष्ट्राद् ह्रियन्तेदस्युभिः प्रजाः।
सपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति॥ मनु०।७ १४३

अर्थात् यदि राजा स्वयं मनुष्यों के कामों की देख रेख न कर सके तो इस कार्य के लिये धर्म के जानने वाले, बुद्धिमान, जितेन्द्रीय, धर्मात्मा मन्त्री को नियुक्त करे (१४१)। कर्मचारियों सहित जिस राजा के देखते हुए रोती चिल्लाती हुई प्रजा दस्युओं (चोरों डाकुओं) से पीडित होती है वह राजा जीवित नहीं अपितु मरा हुआ समझा जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त मनु अध्याय ७ श्लोक १०१व१०२ में राजा को यह भी आदेश दिया है गया कि वह जीते हुए देश में जिन दीन लोगों को हानि पहुँची है उन के निर्वाह के लिये उचित सहायता करे। और हारे हुए राजा के वश के किसी योग्य पुरुष को ही उस देश की राजगद्दी पर बैठावे। इस से जहाँ यह सिद्ध होता है कि सब को जीविका मिले वहाँ यह भी विदित होता है कि साम्राज्यवाद (Imperalism) भी न फैले और प्रत्येक देश का राज्य उस देश के निवा

सियों के हाथ में ही रहे। इतना ही नहीं अपितु मनुस्मृति अध्याय ७ श्लोक ६० में राजा पर ये भी प्रतिबन्ध लगाया गया है कि वह युद्ध में छुपे हुए, विष में बुझाये हुए और जलते हुए शस्त्रों से शत्रु को न मारे। क्योंकि इनसे निर्दोष प्रजा को भी अत्यन्त हानि पहुँचती है।

(४) पूँजीपति और श्रम-जीवियों की समस्या को हल करने के लिए वेदादि शास्त्रों में गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत सम्मिलित परिवार (Joint family) की व्यवस्था की गई है। यथा—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ अथर्व० १४। १। २२।

अर्थात्—हे दम्पति=पती पत्नी इस घर में ही बने रहो, एक से पृथक न होओ, पुत्रों और पोतों से खेलते और इस घर में आनन्द पूर्वक रहते हुये सम्पूर्ण आयु को व्यतीत करो।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ अथर्व ३। ३०। २

अर्थात् पुत्र पिता के अनुकूल सत्यव्रत वाला हो, माता के साथ एक मन वाला हो, पत्नी पति के प्रति मीठी और शान्ति देने वाली वाणी बोले।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ अथर्व ३। ३०। ३

अर्थात् भाई बहिन परस्पर द्वेष न करें। एक व्रत और सत्याचरण वाले हो कर सभ्य रीति से परस्पर मीठी वाणी बोलें।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु, वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥
अ० पर्व ३।३०।५

अर्थात् बड़ों वाले (जिन के माता पिता आदि एक हैं) विचार शील, एक मत से कार्य करने वाले, एक उद्देश्य वाले हो कर तुम अलग मत होओ। दूसरे के लिए मीठा बोलते हुए आगे बढ़ो। मैं तुम समान मन वाले लोगों को समान गति वाला करता हूँ।

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ अ० ३।३०।६।

हे परिवार के लोगो! तुम्हारा खानपान एक समान हो, और तुम्हारे अन्नों के भाग सम्मिलित हों, मैं तुम को एक जैसे जुए=कर्तव्य में जोड़ता हूँ। तुम सब मिलकर एक ही प्रकार से भगवान् की पूजा करो। जिस प्रकार से कि अरे सब ओर से रथ की नाभि में जुड़े हुये होते हैं।

उक्त वेद प्रदर्शित सम्मिलित परिवार की प्रथा समाजवाद की मूलाधार है। और इस समय के भारत वासियों (हिन्दू मुसलमान आदि) में भी इस का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। भेद केवल इतना है, कि प्राचीन काल में सम्मिलित परिवार एक ही

जन्म सिद्ध वर्ण की व्यक्तियों का समुदाय नहीं होता था अपितु एकही माता पिता से उत्पन्न होने वाले ऐसे भाई बहिनों आदि का समुदाय होता था जो कि भिन्न-भिन्न कार्यो के करने से भिन्न-भिन्न वर्णो के होते थे और एक ही घर मे मिल कर रहते थे। क्योंकि वर्ण वैयक्तिक वस्तु है, पारिवारिक वस्तु नहीं। जैसा कि आज कल एक ही माता पिता के पुत्र अध्यापक, राजकमचारी, व्यापारी तथा शिल्पकार श्रमजीवी आदि होते हुए भी एक ही परिवार मे मिल कर रहते हैं। और उनकी सम्पत्ति भी सम्मिलित साझी होती है। तथा सब के खाने पहिनने आदि का अधिकार भी समान ही होता है। चाहे उन मे कोई अधिक, कोई न्यून और कोई न भी कमाने वाला हो।

(५) वैदिक धर्म मे मनुष्य जीवन के प्रोग्राम को सफलता पूर्वक पूरा करने के लिये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास रूपी आयु के चार आश्रमो (विभागो) मे विभक्त किया गया है। यद्यपि प्रत्येक आश्रम अपने-अपने कार्यक्रम के दृष्टि कोण से महान् है तथापि मनु० अध्याय तीन के निम्नलिखित श्लोको में गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमो की अपेक्षा विशेष महत्व पूर्ण बताया है—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ ७७॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।

गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।

सुखंचेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ७६ ॥

अर्थात् जैसे सम्पूर्ण प्राणी वायु के आश्रय जीते हैं वैसे ही गृहस्थ के आश्रय सारे आश्रम चलते हैं। (७७) जिस कारण चारों तीनों (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास) आश्रम वालों का ज्ञान और अन्न से गृहस्थ ही प्रति दिन धारण करता है इसलिए गृहस्थाश्रम सब से बड़ा है (७८) गृहस्थाश्रम दुर्बल इन्द्रिय वालों से धारण नहीं किया जा सकता यह गृहस्थाश्रम इस लोक में सुख तथा मोक्ष सुख की इच्छा करने वालों को यत्न से धारण करना चाहिये। (७६)

(६) मनुस्मृति अध्याय ३ में प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन पंच महायज्ञों के करने की आज्ञा दी गई है. यथा—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवोबलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् । अ० ३ ।७०

अर्थात् विद्यार्थियों अथवा ब्रह्मचारियों को विद्या पढ़ाना, माता पिता आचार्य आदि पितरों को अन्न वस्त्र आदि जीवनाधार पदार्थों से तृप्त करना, रोग विनाशक तथा स्वास्थ्य वर्धक सुगन्धित वस्तुओं की अग्नि में आहुतियां देकर वायु आदि को शुद्ध करना। जो प्राणी अपाहिज आदि होने के कारण स्वयं आजीविका पैदा नहीं कर सकते ऐसे भूखे नंगे निराश्रय मनुष्यों को अन्न वस्त्र आदि देना, चारों वर्णों के श्रेष्ठ मनुष्यों में से जो घर में आजायें ऐसे

अतिथियों की अन्नादि से सेवा करना। ये गृहस्थाश्रमी के नित्य-कर्तव्य कर्म हैं।

उक्त पंच महा यज्ञों का विशेष वर्णन मनुने इस प्रकार किया है—

(क) ब्रह्म यज्ञ—प्राचीन भारत में सब विद्यार्थियों को विद्या मुफ्त दी जाती थी। अर्थात् विद्यार्थियों को विद्वान् बनाने की जिम्मेदारी उनके माता पिता पर ही नहीं होती थी अपितु सब गृहस्थों अथवा समाज पर होती थी।

(ख) पित्र यज्ञ—

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चै यहि।
भुञ्जीयाता ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती॥ मनु० ३। ११६

अर्थात्- विद्वान्, माता पिता आचार्य आदि तथा नौकरों के भोजन कराने के पश्चात् गृहस्थ स्त्री पुरुष भोजन करें।

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत्॥ मनु० ३। ११७

अर्थात्- विद्वान्, ऋषि, मनुष्य, माता पिता और बालबच्चों को भोजन कराने के पश्चात् गृहस्थ स्त्री पुरुष शेष अन्नका भोजन करें। इसी शेष अन्न को यज्ञ शेष भी कहते हैं। इससे विदित है कि गृहस्थ आश्रम एक यज्ञीय संस्था है और उसकी रसोई यज्ञ शाला। तथा सब को खिलाने के पश्चात् जो अन्न बचे वही यज्ञ शेष है।

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्चयः ।
न निर्वपति पंचानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ मनु०३।७२ ॥

अर्थात् जो गृहस्थ, विद्वान्, अतिथि, नौकर, माता पिता आदि आत्मीय जनों को अन्न न दे वह जीता हुआ भी मरे के तुल्य है ।

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति ।
त्यजन्नपतितानेतान् राजादण्ड्य शतानिषट् ॥ मनु ८।३८९ ।

अर्थात् माता, पिता, स्त्री और पुत्र त्याग करने के योग्य नहीं हैं । जो इनको बिना पतित हुये ही त्याग करता है उसको राजा छः सौ पण दण्ड दे । इससे निश्चित है कि गृहस्थ को न केवल पितृ यज्ञ करने का आदेश ही किया गया है अपितु न करने पर राज दण्ड का भी विधान है ।

(ग) देवयज्ञ — मनु० अध्याय ३ श्लोक ७५,७६ मे लिखा है कि जो गृहस्थ नित्य वेदाध्ययन और अग्निहोत्र करता है वह चराचर का पोषण करता है क्यों कि अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य के समीप पहुँचती है और सूर्य से वर्षा, वर्षा से अन्न तथा अन्न से प्रजा की उत्पत्ति और पालन होता है ।

अग्निहोत्र का महत्व इस बात से भी प्रकट होता है कि जिन वेद मन्त्रों से प्रात और सायंकाल अग्निहोत्र किया जाता है उनके अन्त में 'इदन्न मम' अर्थात् यह मेरे लिये नहीं अपितु सब के लिये है, ऐसा वाक्य आता है ।

(घ) भूतयज्ञ—मनु० अध्याय ३ में लिखा है—

शुना च पतिताना च श्वपचा पाप रोगि णाम्।
वायसाना कृमीणा च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥३।९२

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्त्तिः पथर्जुना ॥३।९३

अर्थात्–कुत्ते, पतित, चाण्डाल, पाप रोगी, कौवे तथा कीड़ों को भी बलि देना चाहिये। (९२) जो गृहस्थ यथाशक्ति सब प्राणियों को सत्कृत्य करता है वह सीधे मार्ग से ज्योतिस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है।

(ङ-) नृ यज्ञ— अथर्ववेद में नृ यज्ञ अर्थात् अतिथि सेवा का वर्णन इस प्रकार से आता है—

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वो अतिथेरश्नाति ।
अ० ९।६।३।१

अशितावत्यतिथावश्नीयाद्यज्ञस्य सात्मत्वाय
यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्॥ अ० ९।६।३।८

अर्थात्–जो अतिथि से पहिले भोजन करता है वह सच मुच घर के सुख और अपने शुभ कर्मों को खाता है। यज्ञ की सफलता और अविनाश के लिये गृहस्थ अतिथि से पहिले भोजन न करे। यह नियम है।

मनुस्मृति में भी लिखा है—

संप्राप्ताय त्वतिथि ये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ।मनु० ३।९९

अर्थात्— आये हुये अतिथि के लिये यथाशक्ति आसन, जल और अन्न सत्कार करके विधि पूर्वक गृहस्थ दे।

यदित्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत्।
भुक्तवत्सुक्तविप्रेषु कामं तमपि भोजयेत्॥ मनु० ३।१११
वैश्यशूद्रौ अपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजनम्॥ मनु० ३।११२

इन श्लोकों का अभिप्राय यह है कि यदि ब्राह्मणके घर भी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अतिथिरूप से आजायें तो वह उनको भी भोजन करादे।

ऊपर जो कुछ पंचमहायज्ञों के सम्बन्ध में लिखा गया है उसे वेद तथा मनुस्मृति के निम्न दो वाक्यों में संक्षिप्त रूप से बता दिया गया है।

मोघमन्नं विंदते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्सतस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥
ऋ० १०।११७।६

अर्थात्-यह नितान्त सत्य है कि वह बे-समझ मनुष्य अन्न को व्यर्थ ही प्राप्त करता है जो कि मित्रों तथा सदाचारी मनुष्यों की सहायता नहीं करता अकेला खाने वाला तो पापी होता है।

अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्म कारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥ मनु० ३।११८

अर्थात्-जो केवल अपने लिये अन्न पकाता है वह निरा पाप खाता है और जो यज्ञशेष अर्थात् जो दूसरों को खिला कर

बचा हुआ भोजन है वह सज्जनों का भोजन है।

पूर्वोक्त वर्णन के सम्बन्ध में यह आक्षेप हो सकता है कि जब लोगों को इस प्रकार मुफ्त अन्न मिलेगा तो ये पुरुषार्थ हीन हो जायेंगे, कार्य नहीं करेंगे। जिस से संसार में बेकारों की वृद्धि होने से चोर डाकुओं की संख्या भी बढ़ जायेगी। इसका उत्तर यह है कि:—

(क) पंच महा यज्ञों में जिन लोगों को अन्न देने के लिये गृहस्थों से कहा गया है वे स्वयं अन्न कमाने में असमर्थ तथा अन्न पाने के अधिकारी भी हैं।

(ख) कर्यन्तो नापेक्षन्त आद्या रोहन्ति रोदसी।
यत्र ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥ अथर्व४। १४। ४

अर्थात् जो उत्तम विद्वान् सब प्रकार से धारण पोषण करने वाले सत्कर्मों को विशेष प्रयत्न से करते हैं वेही दोनों लोकों में से ऊपर होते हुये आनन्द मय धाम पर पहुंचते हैं और अपने तेज को फैलाते हुए किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं करते।

वेद के इस मन्त्र में कार्य करने में समर्थ पुरुषों को पुरुषार्थी और स्वावलम्बी बनने का उपदेश दिया गया है और यह भी कहा गया है कि उनको किसी दूसरे की सहायता पर निर्भर नहीं रहना चाहिये।

(ग) मनु ने भी लिखा है—

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादि दायिनाम्॥ मनु ३।१०४

अर्थात्—जो निर्बुद्धि गृहस्थ दूसरे के अन्न का सहारा लेते हैं वे मरने पर अन्न देने वाले के पशु बनते हैं।

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेज प्रशाम्यति ॥ मनु ४।१८६
न द्रव्याणामविज्ञाय विधिधर्म्यं प्रति ग्रहे।
प्राज्ञ प्रति ग्रह कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ मनु ४।१८७

अर्थात् दान लेने में समर्थ होने पर भी उसमें आसक्त नहीं होना चाहिये क्योंकि दान लेने से वेद सम्बन्धी तेज शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। (१८६) दान में द्रव्यों की धर्म युक्त विधि के न जानने वाला भूख से पीडित होने पर भी दान न लेवे। (१८७)

ऊपर के श्लोकों में दान लेनेवालों के विषय में लिखा गया है। नीचे के श्लोक में दानदाताओं को भी आदेश दिया है—

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ मनु ४।१९२

अर्थात् धर्म को जानने वाले गृहस्थ को चाहिये कि बिल्ली के समान मक्कार और बगुले के समान दम्भी तथा वेद विहीन नामधारी द्विज को जल भी न दे।

पाठक वृन्द ! मैंने आजीविका प्राप्ति तथा पूंजीपति और और श्रमजीवी (Capitalist Labourers) की समस्या (जिसके हल करने के लिये योरप में सोशियलिजम की स्थापना

हुई थी और जो नैशनल सोश्यलिजम के रूप में परिणत होकर दवा के स्थान मे मर्ज बन गया है) का सामाधान करने वाले वेदादि शास्त्र प्रदर्शित साधनों का जो थोड़ा सा वर्णन ऊपर किया है उससे आपको ज्ञात हो गया होगा कि आर्यों के जीवन सम्बन्धी प्रत्येक धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यमे सार्वजनिक समाजवाद,(Universal Socialism) की नीति पर ही निर्धारित किया गया है। अर्थात् आर्यों की कोई धार्मिक तथा सामाजिक मर्यादा ऐसी नहीं है जिसमे समाज सेवा का ध्यान न रखा गया हो। यह दूसरी बात है कि यह विदेशी शिक्षा पद्धति के प्रभाव से प्रभावित होकर अपनी धार्मिक तथा सामाजिक मर्यादाओं के महत्व को भूल गये हों। और उनके वास्तविक स्वरूप को विकृत बना लिया हो। परन्तु यह निश्चित है कि यदि शास्त्रीय मर्यादाओं के वास्तविक रूप को समझ कर उन पर अमल किया जाये तो न कोई प्राणी भूखा रह सकता है और न ही पूंजीपति और श्रमजीवी का प्रश्न पैदा होता है।

वर्तमान् पाश्चात्य समाजवाद और प्राचीन भारतीय समाजवाद मे बड़ा भारी अन्तर यह कि जहां पश्चात्य समाजवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बाधक है वहा भारतीय समाजवाद प्रत्येक मनुष्य मे धार्मिक (कर्तव्य) बुद्धि को जागृत करके उसे स्वतन्त्रता पूर्वक कर्तव्य पालन करने की प्रबल प्रेरणा करता हुआ समाज की उन्नति कारण बनता है। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त प्रमाणों से भी सिद्ध होता है कि भारतीय

समाजवाद मे समाज सेवा को मनुष्य के दैनिक जीवन का अंग बना दिया गया है। और दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने में मनुष्य स्वभावतः प्रवृत्त होता है।

पूर्वोक्त वर्णन के सम्बन्ध में यह प्रश्न हो सकता है कि इसमें कोई संदेह नहीं है कि वेदादि शास्त्रों ने समाजवाद (Socialism) का उपदेश दिया है और मनुष्य मात्र को समाज सेवा का आदेश दिया है। परन्तु उक्त शास्त्रों का उपदेश और आदेश धार्मिक होने से उसके पालन करने के लिये मनुष्य बाधित नहीं है। स्वतन्त्र होने से उसका अधिकार है कि उसका पालन करे या ना करे, इसलिये इससे समाजवाद का उद्देश्य पूरा नहीं होता क्योंकि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है। अतः आवश्यक है कि राज नियम द्वारा मनुष्यों से इसका पालन कराया जाय। इसका एक उत्तर तो यह है कि पश्चिमी समाजवाद अथवा Socialism भी अभी तक संसार में पूर्णतया किसी देश का राज्य नियम नहीं बना।

समाजवादी अथवा Socialist लोग अपने विचारों का प्रचार करके ही उसके पालन करने की प्रेरणा करते हैं। उनसे तो वेदादि शास्त्रों का उपदेश और आदेश ज्यादा प्रबल है, बल्कि राज्य नियम से भी अधिक प्रबल है क्योंकि वेदादि शास्त्रों को मानने वाले उनकी आज्ञाओं को राज्य नियम से भी प्रबल मानते हैं। और उनके पालन करने से स्वार्थी मनुष्यों की स्वार्थ सिद्धि की भावना भी पूरी होती है।

अर्थात् उनके मन्तव्य अनुसार धार्मिक कर्तव्यों के अनुष्ठान से लोक और परलोक दोनों प्रकार के सुखों की सिद्धि होती है। वह इस प्रकार कि लोक में उनकी प्रशंसा होती है और जिनकी सेवा और सहायता की जाती है वह भी उनके कृतज्ञ होते हैं और परलोक में भी उसका उत्तम फल मिलता है। इसलिये यह मन्तव्य स्वार्थी मनुष्यों को भी समाज सेवा के लिये प्रेरणा अथवा विवश करता है। इसके सिवाय यह समझ लेना भी आवश्यक है कि मज़हब (religion) और धर्म परस्पर पर्याय-वाची शब्द नहीं हैं। मज़हब के अर्थ हैं रास्ता और धर्म के अर्थ हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, आदि मानवीय जीवन अथवा मनुष्यत्व सम्बन्धी मर्यादाओं का पालन करना। (देखो मनु० अध्याय १०, श्लोक ६३) इसलिये जो मनुष्य जितनी मात्रा या अंश में धार्मिक मर्यादाओं का पालन करता है उतनी मात्रा में ही उसमें मनुष्यत्व है। इसलिये मनुष्य को वास्तविक मनुष्य बनने के लिये धर्म का पालन करना आवश्यक है?

इसके अतिरिक्त राज्य प्रकरण में धर्म शब्द कानून के अर्थ में भी आता है। इसलिये ही वैदिक साहित्य में कानून को राज्य धर्म भी कहते हैं। (देखो मनु० अ० ८ श्लोक ४१। यही कारण है कि मनुस्मृति आदि स्मृतियां जो कि भिन्न-भिन्न समय के राजाओं का कानून थीं उनको धर्मशास्त्र भी कहते हैं। उनके अनुकूल आचरण करना प्रजा के लिये आवश्यक होता था, और जो कोई उसके विरुद्ध चलता था उसको राज्य दण्ड भी मिलता

था जैसा कि पीछे पितृ यज्ञ के प्रकरण में उद्धृत किये गये मनुस्मृति अध्याय ८ श्लोक ३८६ में थे यह विधान किया गया है कि माता, पिता, स्त्री आदि को त्याग करने वाले को राजा ६०० पण दण्ड दें। अतः समाज सेवा को धार्मिक कर्तव्य बताना इसकी पुष्टि का कारण है न कि कमजोरी का।

वैदिक वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य

पीछे उद्धृत किये गये वेद, उपनिषद् तथा स्मृति आदि ग्रन्थों के प्रमाणों से स्पष्ट विदित है कि ब्राह्मण आदि चतुर्विभाग अथवा वैदिक वर्ण व्यवस्था एक समाजिक आयोजना है। जिसका उद्देश्य यह है:—

१—मानव जगत की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले काय अर्थात् सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार, सामाजिक प्रबन्ध, रक्षा, व्यापार और श्रम साध्य कृषि तथा शिल्पादि कार्यों को सफलता पूर्वक करने के लिये परस्पर सहयोगी बनकर, कार्यों को बाँटकर किया जाये।

२—योग्य (शिक्षित) Trained कार्य कर्ताओं के हाथ से काम कराया जाये।

३—सबको काम मिले और कोई भी बेकार न रहे।

४—कार्य कर्ताओं के अपने-अपने कार्य से उनकी आजीविका

की सिद्धि भी हो ताकि काम करने वाले विना किसी वाह्य प्रेरणा के स्वयं ही अपने-अपने कार्यों में लग्न और उत्साह पूर्वक लगे रहें और लौकिक व्यवहार भी निर्विघ्नता से नियम पूर्वक चलते रहें।

वेद में शूद्र अधिकार तथा स्थिति

पीछे वैदिक तथा आर्ष ग्रन्थों के प्रमाणों से यह दर्शाया गया है कि वैदिक वर्ण व्यवस्था की आयोजना का उद्देश्य तथा ब्राह्मादि वर्णस्थ मनुष्यों का कर्तव्य क्या है? अब यहाँ पर अत्यन्त संक्षेप से यह भी दर्शाया जाता है कि ब्राह्मण आदि चतुर्विभाग विशेष कर शूद्र के वेद प्रदर्शित अधिकार और स्थिति क्या है, ताकि लोगों की जन्म सिद्ध अवैदिक वर्ण व्यवस्था के संस्कारों से बनी हुई शूद्र सम्बन्धी भ्रांति दूर हो जाये।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एत स भ्रातरो वावृधु: सौभगाय। ऋ०५।६०।५

अर्थात् मनुष्यों में जन्म सिद्ध कोई भेद नहीं है। उनमें कोई बडा, कोई छोटा नहीं है। वे सब आपस में बराबर के भाई हैं। सब को मिल कर अभ्युदय पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये।

इससे यह भी विदित होता है कि मनुष्यों में मनुष्यत्व की दृष्टि से वर्णों में कोई जन्म सिद्ध भेद नहीं है। और की स्थिति तथा अधिकार बराबर हैं।

यथमा वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्म राजन्याभ्या शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥ यजु० २६ । २

इस मन्त्र में शूद्र को नहीं अपितु मनुष्य मात्र को भी वेद पढ़ने का वैसा ही अधिकार दिया गया है जैसा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य को।

पंचजनाममहोत्रं जुषन्ता गो जाता उतये यज्ञियासः पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वं हसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥ ऋ० १० । ५३ । ५

इस मन्त्र में यजमान कहता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और निषाद पांचों प्रकार के मनुष्य मेरे यज्ञ को करें। इत्यादि।

उक्त मंत्रों से, स्पष्ट है कि वेद में चारों वर्णों को द्विज बनाने का एक समान अधिकार है। यह अधिकार न होता तो वर्ण व्यवस्था की आयोजना हो ही नहीं सकती थी क्योंकि द्विजन्मा हुए बिना कोई भी व्यक्ति किसी भी वर्ण के कार्य कि शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नरस्कृधि ॥
रुचं विश्येषु शूद्रेषुमयि धेहि रुचा रुचम् ॥ यजु० १८ । ४८ ।
प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ॥

प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ अथर्व १९ । ६२ । १

प्रथम मंत्र में ब्राह्मणों, क्षत्रियों वैश्यों और शूद्रों को समान रूप से तेज देने की प्रार्थना की गई है और दूसरे मंत्र में चारों वर्णों को परस्पर प्रेमी और प्यारा बनने की शिक्षा दी गई है। इससे विदित है कि वेद में चारों वर्णों के साथ एकसा व्यवहार किया गया है। शूद्र को भी तेजस्वी बनाने की प्रार्थना इस बात का प्रमाण है कि वेद का शूद्र आर्य है अनार्य या दस्यु नहीं। यदि वैदिक शूद्र अनार्य अथवा दस्यु—दुष्ट होता तो वेद में उसे तेजस्वी बनाने अथवा उससे प्यार करने की शिक्षा न दी जाती बल्कि उसका सुधार करने का आदेश किया जाता, जैसा कि नीचे लिखे मन्त्र में किया गया है:—

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ॥

अपघ्नन्तो अराव्णः ॥ ऋ० ९ । ६३ । ५ ॥

अर्थात्—हे कार्यशील विद्वानों! ईश्वर की महिमा को बढ़ाते हुए (आस्तिकता का प्रचार करते हुए) दुष्टों की दुष्टता का नाश करके समस्त संसार को आर्य (श्रेष्ठ) बनाओ।

मागधः पुंश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः ॥

यजु० ३० । २२ ॥

अर्थात्—मनुष्यों में निन्दित, व्यभिचारिणी, जुआरी नपुंसक जिनमें शूद्र (श्रमजीवी कारीगर) और ब्राह्मण (अध्यापक और उपदेशक) नहीं उनको दूर बसाओ। और जो राजा के

सम्बन्धी हितकारी (सदाचारी हैं) उन्हें समीप बसाया जाए। इस मन्त्र में आए हुए "अशूद्राः" और "अब्राह्मणाः" शब्द से विदित है कि वेद में वर्णात्मक दृष्टि से शूद्र और ब्राह्मण की स्थिति में कोई भेद नहीं। दोनों की लौकिक व्यवहार में एक समान उपयोगिता है। क्योंकि यदि ब्राह्मण मनुष्यों को पढ़ा कर विद्वान् बनाते हैं तो शूद्र अन्नादि जीवनाधार पदार्थों को उत्पन्न करके प्राणियों को जीवन प्रदान करते हैं।

पाठक वृन्द, उपरोक्त मंत्रों से वैदिक शूद्र की स्थिति स्पष्ट हो जाती है जिससे वैदिक शूद्र के आर्य होने में कोई भी सन्देह नहीं रहता। क्योंकि वेदों में चारों वर्णों के अधिकार और कर्तव्य एक समान बतलाए हैं।

स्मृति आदि ग्रन्थों में शूद्रों की स्थिति और अधिकार

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ मनु० १० । ६३ ॥

अर्थात्—हिंसा न करना, सच बोलना, दूसरे का धन अन्याय से न हरना, पवित्र रहना, और इन्द्रियों का निग्रह करना आदि, चारों वर्णों का समान धर्म है।

पंचयज्ञविधानन्तु शूद्रस्यापि विधीयते।

तस्य प्रोक्तो नमस्कारः कुर्वन् नित्यं न हीयते। वि० स्मृ० १—६॥

अर्थात्—ब्रह्म यज्ञ (सन्ध्या वेदपाठादि) पितृयज्ञ (माता पिता की सेवा) देवयज्ञ (हवनादि) आदि पांचों यज्ञ करने का शूद्रों को भी विधान है। इत्यादि॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये शुचयोऽमलाः।
तेषां मन्त्राः प्रदेया वै न तु सङ्कीर्णधर्मिणाम् ॥
भविष्य पु० उ० पर्व अ १३।६२॥

अर्थात्—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र (आदि कुलोत्पन्न) जो भी शुद्ध और पवित्र हैं उसको वेद (मन्त्रों) का उपदेश देना चाहिये। अन्य अपवित्र और संकुचित धर्म वालों को नहीं, चाहे वह किसी भी कुल में जन्मे हों। इस श्लोक में भी चारों वर्णों के अधिकारी जनों को वेद पढ़ाने की आज्ञा दी गई है।

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता विप्रा वर्णान्तरं गताः। धर्मो यज्ञः क्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥ १४ ॥ इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती। विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः ॥ १५ ॥ म० भा० शा० पा० अ० १८८

इसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण ही भिन्न २ कार्यों के कारण दूसरे वर्ण वाले हो गए। इन चारों वर्णों में से किसी के लिए भी धर्म और यज्ञादि सदा के लिए मना नहीं है। ईश्वरीय वेद वाणी आरम्भ में चारों वर्णों के लिये समान रूप से दी गई थी परन्तु लोभवश लोग धीरे २ अज्ञान में फंसते चले गये।

इतना ही नहीं कि स्मृति आदि ग्रंथों में ही चारों वर्णों की स्थिति अर्थात् कर्तव्य और अधिकार सिद्धान्त रूप से एक समान बतलाये गये हैं बल्कि ऐतिहासिक प्रमाण ऐसे भी मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन अथवा वैदिक काल में

चारों वर्णों के आचार और विचार भी एक समान थे। जैसा कि महाभारत के निम्न श्लोकों में बतलाया गया।

चत्वारो वर्णा यज्ञमिमं वहन्ति । महा० वनपर्व १३४।११॥

नीलकण्ठ टीकाकार ने इस प्रकार अर्थ किया है:— न केवल यज्ञ किन्तु ज्ञानयज्ञ में भी शूद्र का अधिकार है।

ताड़कावध के लिये ऋषि विश्वामित्र ने राम को यह आदेश किया है :—

नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।
चातुर्वर्ण्यं हितार्थं हि कर्त्तव्यं राजसूनुना॥
(वा० रा० बाल० २५।१७)

अर्थात् हे राम! तुझे स्त्रीवध में घृणा नहीं करनी चाहिये। चातुर्वर्ण्य के हितार्थ स्त्री का वध भी राजपुत्र का कर्त्तव्य है। इससे विदित है कि रामायण में भी चारों वर्णों के साथ एक समान व्यवहार करने की आज्ञा है।

ब्राह्मणा क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्च कृतलक्षणाः।
कृते युगे समभवन् स्वकर्मनिरता प्रजाः॥ १८॥
समाश्रयं समाचारं समज्ञानं च केवलम्।
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन्॥ १९॥
एकदेवसमायुक्ता एकमंत्रविधिक्रियाः।
पृथग्धर्मास्त्वेकवेदा धर्मैकमनुव्रताः॥ २०॥

॥ महा० वन० अ० १४९॥

अर्थात्—कृतयुग में ब्राह्मणादि चारों वर्णों का आश्रय, आचार और ज्ञान एक समान था, सब एक ही ईश्वर के उपासक

थे, सब वैदिक मन्त्रों से संस्कारादि करते थे। उनके (वर्ण) धर्म भिन्न २ होने पर भी वह सब एक ही वैदिक धर्म के मानने वाले थे।

पूर्वोक्त वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों से अच्छी प्रकार सिद्ध है कि चारों वर्ण, आर्यों के ही भिन्न २ कार्य करने के कारण चार भेद हुए और चारों वर्णों की स्थिति तथा अधिकार और कर्तव्य भी एक ही समान थे इनमें कुछ भी भेद नहीं था। इसके विरुद्ध स्मृतियों तथा पुराणादियों में जो विशेष रूप से ब्राह्मण और शूद्र के भेद का वर्णन मिलता है वह मेरी सम्मति में आर्य और दस्यु का ही भेद है क्योंकि पौराणिक काल में दस्यु और शूद्र को पर्यायवाची मान लिया गया था। उसका प्रमाणपूर्वक वर्णन आगे किया जाता है।

वेद का शूद्र आर्य और स्मृतियों का शूद्र दस्यु है

पाठक वृन्द, मैंने वैदिक शूद्र का वास्तविक स्वरूप बतलाने के लिये जो प्रमाण वेदादि शास्त्रों के पीछे उद्धृत किये हैं, उन से यह तो निश्चित है कि वेद का शूद्र आर्य है। परन्तु स्मृतियों और पुराणादि ग्रथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें शूद्र तथा दस्यु को पर्यायवाची बना कर इतना अभेद बना दिया गया है कि इन ग्रन्थों से उनके वास्तविक स्वरूप को जानना लगभग असम्भव हो गया है। उदाहरण के लिये कुछ प्रमाण आगे दिये जाते हैं।

सर्वभक्षिरतिर्नित्यं सर्व-कर्म-करोऽशुचिः ।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ॥७॥
महा० भा० शा० प० अ० १८९॥

अर्थात् जो सर्वभक्षी है और सब काम करता है अथवा जिस का अपना कोई निश्चित व्रत(नियम)या काम नहीं, जो मलिन है, जिसने वेद को त्याग दिया है और आचारहीन है उसे शूद्र कहते हैं। जिस शूद्र का इस श्लोक में वर्णन है ऐसे शूद्र की वेद में गंध-मात्र भी नहीं है क्योंकि जो दुर्गुण इस श्लोक में शूद्र के बतलाये गये हैं वह वेद ने शूद्र के नहीं बल्कि दस्यु के बतलाये। यथा :—

अकर्मा दस्युरभिनो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः ॥ ऋ० १०।२२।८

अर्थात्—जो परोपकारादि शुभ कर्मों को नहीं करता बल्कि जीवन-निर्वाह के लिए (चोरी, डाका आदि) बुरे कर्मों से दूसरे का धन हरता है, जो मननशील नहीं है और जिसमें मनुष्यत्व भी नहीं है अर्थात् जिसमें मानवी सभ्यता और मानवीय प्रवृत्ति नहीं। बल्कि जो हिंसक पशुओं की तरह सब प्रकार के मांसादि अभक्ष्य पदार्थों को खाकर अपना जीवन निर्वाह करता है वह दस्यु है।

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम् ।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः ॥
(ऋ० ८।७०।११)

अर्थात् ज्ञानी पुरुषों को चाहिये कि अयोग्य कार्य करने वाला अमानुषी प्रवृत्ति वाला, नास्तिक, जो दस्यु (दुष्ट हिंसक) है उस को (नागरिकों की भलाई के लिये) दूर रखें।

ऊपर उद्धृत किए गये प्रमाणों से स्पष्ट है कि जिस शूद्र की महाभारत के श्लोक में परिभाषा की गई है वह वेद के शूद्र की नहीं बल्कि वेद के दस्यु की है। अतः हम निश्चय से कह सकते हैं कि पुराणों का शूद्र और वेद का दस्यु एक ही है उनमें कोई भेद नहीं।

अब यहां पर यह सन्देह होता है कि वेद और स्मृतियों आदि में शूद्र की परिभाषा में इतना बड़ा अंतर कैसे हो गया। इसका ठीक कारण तो भगवान ही जानते हैं। क्योंकि हमारे पास इसका कोई स्पष्ट ऐतिहासिक वर्णन मौजूद नहीं है तथापि स्मृति आदि ग्रन्थों के अध्ययन से निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इसका कारण शूद्र तथा दस्यु के पर्यायवाची समझ लेने की भूल है और इस भूल का कारण स्मृतियों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि स्मृति-काल में राजाज्ञा से बेकार तथा आचार-हीन दस्युओं के सुधार अर्थात् उन्हें नागरिक बनाने के लिए लुहार, चमार, बढ़ई आदि के शिल्पी कामों पर लगाया गया। ताकि उन्हें काम करने की आदत पड़े और उनकी आजीविका की भी सिद्धि हो। (देखो मनु० अ० १० श्लोक ४६ तथा ९९) परन्तु वेद के अनुसार यह शिल्पी अथवा कारू काम आर्य शूद्रों

के थे जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, और वह उनको कर रहे थे। जब दस्यु भी उन कामों को करने लग गये तो कार्य-क्षेत्र में वैदिक तथा पौराणिक शूद्रों (वेद के दस्युओं) के इकट्ठा हो जाने से शनैः २ सहकारी होने के कारण दोनों को ही शूद्र समझा जाने लगा क्योंकि यह शिल्पी काम वास्तव में शूद्रों ही के थे। और मनुस्मृति अध्याय १० श्लोक ४ के अनुसार वर्ण चार ही हैं पांच नहीं। अतः दस्युओं के शिल्पी काम करने के कारण उन्हें शूद्र समझा जाने लगा इसलिए ही शूद्र तथा दस्यु पर्यायवाची वन गये। यह सम्भव ही नहीं अपितु स्वाभाविक था कि दोनों के कार्य-क्षेत्र में मिल जाने से इन पर एक दूसरे के आचार विचार का भी प्रभाव पड़े और इसी कारण दोनों की प्रवृत्ति और प्रकृति में भी परिवर्तन होता गया हो, और इसी वजह से दोनों को अभेद समझ लिया गया हो।

यद्यपि दीर्घकालीन सामाजिक परिवर्तनों के कारण स्मृति-काल में वैदिक शूद्र तथा दस्यु शब्द पर्यायवाची वन गये तथापि वैदिक शूद्र अथवा शूद्रत्व निर्मूल नहीं हुए उनकी सत्ता भी वरावर वनी रही। अर्थात् दस्युओं के सहकारी होने पर भी वैदिक शूद्र भी बने रहे और दस्यु पौराणिक शूद्र) भी। इस लिये स्मृतियों को भी सत शूद्र तथा असत् शूद्र दो भेद मानने पड़े। असत् शूद्र का रूप तो ऊपर लिखे गये महा-भारत के श्लोक से बताया जा चुका है, सत् शूद्र का जो रूप स्मृति में वर्णित है, वह इस प्रकार है:—

विशुद्धान्वयमंजातो निवृतो मद्यमासयोः।
द्विजभक्तिवर्णावृत्तिः सच्छूद्रः संप्रकीर्तितः॥

वृद्धपाराशर स्मृ० अ ४।

अर्थात् जो शुद्ध (आर्य) कुल में उत्पन्न हुआ है और मद्य मांस का सेवन नहीं करता, जो द्विजों का भक्त है, जो व्यवसायी (शिल्पी) है उसे सत् शूद्र कहते हैं।

गृह्यसूत्रों में ऐसे शूद्रों का उपनयन संस्कार करने का भी विधान है।

शूद्राणामदुष्टकर्माणामुपनयम्॥ हरिहर भाष्य गृ० सू० का० २॥

अर्थात्—दुष्ट काम न करने वाले शूद्रों का उपनयन संस्कार करना चाहिये। इससे विदित है कि सत् शूद्रों का उपनयन संस्कार द्विजों के समान ही हुआ करता था।

और स्मृति काल में भी वैदिक शूद्र अथवा सत् शूद्र हुआ करते थे जैसा कि निम्न प्रमाणों से विदित है।

वत्सरान्नैध्रुवो जज्ञे रैभ्यश्च सुमहायशा॥ २॥
रैभ्यस्य जज्ञिरे शूद्राः पुत्राः श्रुतिता वराः॥

कूर्म पुराण अ० १६॥

अर्थात् वत्सर के नैध्रुव तथा रैभ्य दो पुत्र हुये। और रैभ्य के वेद पारंगतों में श्रेष्ठ पुत्र शूद्र हुये।

अभिप्राय यह है कि वेद-पारंगत होने पर भी उन्होंने आजीविका के लिये शूद्र वर्ण का काम किया और शूद्र कहलाये।

शब्द को देख कर यह सन्देह हो सकता है कि स्वामी जी ने शूद्र को आर्यों से पृथक् अनार्य अथवा दस्यु माना है। परन्तु यह सन्देह ठीक नहीं क्योंकि पहले स्वयं वे शूद्र को आर्यों में मान चुके हैं फिर वह उसको आर्यों से पृथक् दस्यु कैसे मान सकते हैं। यद्यपि दयानन्द जी जैसे परम विद्वान् के कथन में 'वदतोव्याघात' दोष नहीं आ सकता। प्रथम तो ऐसा मानने से आर्यों के चार भेद ही नहीं रहते अपितु तीन ही रह जाते हैं क्योंकि दस्यु कोई वर्ण नहीं है और स्पष्टत आर्यों से भी पृथक् माना गया है और स्वयं श्री स्वामी जी ने 'अनार्य' शब्द का अर्थ 'अनाड़ी' लिखकर इस सन्देह को मिटा दिया है। यहाँ अनाड़ी के अर्थ अद्विज—कुछ न जानने वाले के ही लिए हैं क्योंकि यह सम्भव नहीं कि श्री स्वामीजी जैसा वेदों का परम विद्वान् एक ही स्थान पर शूद्र को आर्य भी माने और दस्यु भी। हां यदि अनार्य के अर्थ 'अनाड़ी' स्थान पर चोर डाकू और हिंसक आदि होते तो अनार्य शब्द के अर्थ अवश्य ही दस्यु होते। जैसा कि ऊपर के दोनों उदाहरणों में श्री स्वामी जी ने दस्यु के विशेषणों में डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् आदि ही लिखे हैं अनार्य नहीं। एक पहले स्थान पर मूर्ख शब्द दस्यु तथा शूद्र दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। परन्तु केवल एक या दो विशेषणों की ही समानता से शूद्र दस्यु नहीं हो सकता। यदि हो सकता है तो अद्वैतवादियों की भागत्याग लक्षण द्वारा ही हो सकता है जिसके आधार पर वे ब्रह्म और जीव की एकता

सिद्ध करते हैं। परन्तु यह एकता वास्तविक नहीं और श्री स्वामी दयानन्द जी भी उसे नहीं मानते। इसके अतिरिक्त दस्यु और शूद्र की मूर्खता में भी भेद है। दस्यु अपनी मूर्खता से अपनी आजीविका के लिये धर्म-विरुद्ध चोरी आदि दुष्कर्म करता है। इसके विपरीत शूद्र धर्मपूर्वक मेहनत से आजीविका पैदा करता है। ऋषि के निम्न कथन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

"जो मनुष्य विद्या पढ़ने की सामर्थ्य तो नहीं रखते और वे धर्माचरण करना चाहते हों तो विद्वानों के संग और अपनी आत्मा की पवित्रता से धर्मात्मा अवश्य हो सकते हैं। क्योंकि सब मनुष्यों का विद्वान् होना तो संभव ही नहीं। परन्तु धार्मिक होने का सम्भव सबके लिये है।" (व्यवहारभानु, दयानन्द ग्रन्थमाला शताब्दी संस्करण द्वितीय भाग पृ० ७५५)

फिर सत्यार्थप्रकाश समुल्लास, ११ पृ० २८६ पर भी लिखा है:-

"हम सृष्टिविषय में लिख आये हैं कि आर्य नाम उत्तम पुरुषों का है और उनसे भिन्न (विपरीत) मनुष्यों का नाम दस्यु है।" यहां पर भी महर्षि ने आर्यों से भिन्न अर्थात् विपरीत मनुष्यों का नाम दस्यु लिखा है और सृष्टि विषय में भी शूद्र को आर्यों के अन्तर्गत ही लिखा है। इससे भी मेरे पूर्वोक्त कथन की पुष्टि होती है। अतः यह निश्चित है कि महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने शूद्र और दस्यु को कहीं पर्यायवाची नहीं लिखा और शूद्र को

आप्ता: सर्वेषु वर्णेषु कार्या कार्येषु साक्षिण: ।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ मनु० ८ । ६३ ।

अर्थात्।—सब वर्णों में जो आप्त और सम्पूर्ण धर्म को जानने वाले निर्लोभी पुरुष हों उनको कामों में साक्षी करना चाहिये। इनसे विपरीतों को नहीं। इससे स्पष्ट है कि मनु जी धार्मिक दृष्टि से सब वर्णों को एक समाज मानते हैं। किसी को विद्वान, अविद्वान्, ऊंच और नीच नहीं क्योंकि वे सब ही वर्णों में आप्त और अनाप्त अर्थात् धर्मात्मा और दुरात्मा मानते हैं।

परम वेदज्ञ महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने भी वैदिक शूद्र को आर्यों में ही गिना है। जैसाकि उनके निम्न लेखों से विदित है —

(१) प्रश्न.—आदि सृष्टि में एक जाति थी व अनेक ?

उत्तर —एक मनुष्य जाति थी पश्चात् "विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यव.' यह ऋग्वेद वचन है। श्रेष्ठों का नाम आर्य, विद्वान, देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू, मूर्ख नाम होने से आर्य और दस्यु. दो नाम हुए। "उत शूद्रे उतार्ये" (अथर्व वेद वचन) आर्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुये। द्विज विद्वानों का नाम आर्य और मूर्खों का शूद्र और अनार्य अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ।" (सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास)

(७) इससे आगे सत्यार्थप्रकाश अष्टम समुल्लास में महर्षि फिर लिखते हैं:—

"प्रश्न:—कोई कहते हैं कि यह लोग (आर्य) ईरान से आये, इसी से इनका नाम आर्य हुआ है। इनके पूर्व यहाँ जङ्गली लोग बसते थे जिनको असुर और राक्षस कहते थे। आर्य लोग अपने को देवता बतलाते थे और जब इनका संग्राम हुआ उसका नाम देवासुर संग्राम कथाओं में ठहराया।

उत्तर – यह बात सर्वथा झूठ है क्योंकि "विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ॥ ऋ० म० १ ५१ ८॥" "उत शूद्रे उतार्ये " अथर्व० १८ व० ६२ ॥ यह लिख चुके हैं कि आर्य नाम धार्मिक, विद्वान, आप्त पुरुषों को और इनसे विपरीत जनों का नाम दस्यु अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है तथा ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, द्विजों का नाम आर्य और शूद्र का नाम अनार्य अर्थात् अनाडी है। जब वेद ऐसे कहता है तो दूसरे विदेशियों के कपोलकल्पित को बुद्धिमान् लोग कभी नहीं मान सकते।"

महर्षि ने पहिले कथन को इस दूसरे में दुहराया है (पहिले लेख में श्री स्वामी जी ने आर्यों के चार भेद मान कर शूद्र को भी आर्यों में ही गिना है। परन्तु उसके आगे आर्यों के द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) और अद्विज दो भेद मानते हुए शूद्र को मूर्ख और अनार्य अर्थात् अनाडी लिखा है। यहाँ अनार्य

शब्द को देख कर यह सन्देह हो सकता है कि स्वामी जी ने शूद्र को आर्यों से पृथक् अनार्य अथवा दस्यु माना है। परन्तु यह सन्देह ठीक नहीं क्योंकि पहले स्वयं वे शूद्र को आर्यों में मान चुके हैं फिर वह उसको आर्यों से पृथक् दस्यु कैसे मान सकते हैं। अद्यपि दयानन्द जी जैसे परम विद्वान् के कथन में 'वदतोव्याघात' दोष नहीं आ सकता। प्रथम तो ऐसा मानने से आर्यों के चार भेद ही नहीं रहते अपितु तीन ही रह जाते हैं क्योंकि दस्यु कोई वर्ण नहीं है और स्पष्टतः आर्यों से भी पृथक् माना गया है और स्वयं श्री स्वामी जी ने 'अनार्य' शब्द का अर्थ 'अनाड़ी' लिखकर इस सन्देह को मिटा दिया है। यहाँ अनाड़ी के अर्थ अद्विजे—कुछ न जानने वाले के ही लिए हैं क्योंकि यह सम्भव नहीं कि श्री स्वामाजी जैसा वेदों का परम विद्वान् एक ही स्थान पर शूद्र को आर्य भी माने और दस्यु भी। हां यदि अनार्य के अर्थ 'अनाड़ी' स्थान पर चोर डाकू और हिंसक आदि होते तो अनार्य शब्द के अर्थ अवश्य ही दस्यु होते। जैसा कि ऊपर के दोनों उदाहरणों में श्री स्वामी जी ने दस्यु के विशेषणों में डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् आदि ही लिखे हैं अनार्य नहीं। उक्त पहले स्थान पर मूर्ख शब्द दस्यु तथा शूद्र दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। परन्तु केवल एक या दो विशेषणों की की समानता से शूद्र दस्यु नहीं हो सकता। यदि हो सकता है तो अद्वैतवादियों की भागत्याग लक्षण द्वारा ही हो सकता है जिसके आधार पर वे ब्रह्म और जीव की एकता

सिद्ध करते हैं। परन्तु वह एकता वास्तविक नहीं और श्री स्वामी दयानन्द जी भी उसे नहीं मानते। इसके अतिरिक्त दस्यु और शूद्र की मूर्खता में भी भेद है। दस्यु अपनी मूर्खता से अपनी आजीविका के लिये धर्म-विरुद्ध चोरी आदि दुष्कर्म करता है। इसके विपरीत शूद्र धर्मपूर्वक मेहनत से आजीविका पैदा करता है। ऋषि के निम्न कथन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

"जो मनुष्य विद्या पढ़ने की सामर्थ्य तो नहीं रखते और वे धर्माचरण करना चाहते हों तो विद्वानों के संग और अपनी आत्मा की पवित्रता से धर्मात्मा अवश्य हो सकते हैं। क्योंकि सब मनुष्यों का विद्वान् होना तो संभव ही नहीं। परन्तु धार्मिक होने का सम्भव सबके लिये है।" (व्यवहारभानु, दयानन्द ग्रन्थमाला शताब्दी संस्करण द्वितीय भाग पृ० ७४५)

फिर सत्यार्थप्रकाश समुल्लास, ११ पृ० २८६ पर भी लिखा है:-

"हम सृष्टिविषय में लिख आये हैं कि आर्य नाम उत्तम पुरुषों का है और उनसे भिन्न (विपरीत) मनुष्यों का नाम दस्यु है।" यहां पर भी महर्षि ने आर्यों से भिन्न अर्थात् विपरीत मनुष्यों का नाम दस्यु लिखा है और सृष्टि विषय में भी शूद्र को आर्यों के अन्तर्गत ही लिखा है। इससे भी मेरे पूर्वोक्त कथन की पुष्टि होती है। अतः यह निश्चित है कि महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने शूद्र और दस्यु को कहीं पर्यायवाची नहीं लिखा और शूद्र को

आर्यों में ही माना है।

पाठकवृन्द ! पूर्वोक्त वर्णन से यह बात सिद्ध है, अपितु यह एक अकाट्य सत्य है कि वेद का शूद्र आर्य है और स्मृतियों का शूद्र दस्यु अथवा दास है और सर्वभक्षी तथा आचारहीन आदि होने के कारण मूर्ख और नीच भी वही है। स्वर्गीय श्री पं० शिवशंकरजी काव्यतीर्थ के शब्दों में वैदिक शूद्र और स्मृतियों के शूद्र (वैदिकदस्यु) में जो भारी अन्तर है, वह इस प्रकार है—

१—शूद्र आर्य है परन्तु दस्यु अनार्य है।

२—शूद्र वर्ण है परन्तु दास कोई वर्ण नहीं।

३—शूद्र व्यवसायी है परन्तु दास चोर डाकू।

४—शूद्र मान्य और यज्ञीय है परन्तु दस्यु हन्तव्य।

५—व्यवहार सिद्धि के लिए शूद्र एक अंग है परन्तु दास सब अंगों का नाश करने वाला है........................ इत्यादि वेद के अध्ययन से दोनों में महान् भेद प्रतीत होता है।

(जातिनिर्णय पृ० ४६)

आर्यसमाज के पूज्य नेता महात्मा श्री नारायण स्वामीजी ने भी महर्षि श्री दयानन्दजी का मत प्रदर्शित करते हुये अपनी पुस्तक मिलाप में शूद्र को आर्य ही माना है।

'आर्य शब्द वैश्य के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। श्री स्वामी दयानन्दजी ने भी "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः" (यजु०२६।२) का अर्थ करते हुये 'आर्याय' शब्द का अर्थ वैश्य किया

है। (सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ३ पृ० ७४) अतः यह मन्त्र भी साफ तौर से प्रगट करता है कि शूद्र भी आर्यों के चारों वर्णों के अन्तर्गत है।" इस विषय (शूद्रों के आर्य होने) का विशेष वर्णन अगले प्रकरण में आएगा।

इस समय यह प्रथा चल गई है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को ही सवर्ण माना जाता है, शूद्र को नहीं। परन्तु, ऐसा मानना वेदादि सत्य शास्त्रों के विरुद्ध है, क्योंकि सबने वर्ण चार माने हैं। शूद्रों के वर्णों के अन्तर्गत होने से ही चार वर्ण बन सकते हैं अन्यथा नहीं ? इसलिये शूद्र भी सवर्ण है। अवर्ण केवल दस्यु ही है।

कुछ विद्वानों ने मनुस्मृति में आए वृषल शब्द के अर्थ शूद्र के किये हैं परन्तु उनका यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि स्वयं मनु ने अध्याय ८ के निम्नलिखित श्लोक में धर्म के नाश करने वाले को वृषल कहा है (चाहे वह किसी भी वर्ण का हो) —

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥

अर्थात्-भगवान् धर्म को वृष कहते हैं उसे जो कोई नष्ट करता है उसे विद्वान् लोग वृषल जानते हैं इसलिये धर्म का लोप न करे।

इस प्रकरण से स्पष्ट है कि हम धर्म का नाश करने वा दस्यु को ही वृषल कह सकते हैं शूद्र को नहीं।

शूद्र अछूत नहीं हैं

भारतवर्ष की वर्तमान छूत अछूत न तो किसी विशेष नियम पर निर्धारित है और न ही इसका कोई शास्त्रीय आधार है। वेदादि सत्य शास्त्र तो इसके परम विरोधी हैं ही, स्मृतियों सूत्र ग्रन्थों और पुराणों तथा ऐतिहासिक ग्रन्थों से भी इसका खण्डन होता है। जैसा कि 'शूद्रों के अधिकार तथा स्थिति' शीर्षक के नीचे पहले लिख आये हैं। इस विषय से संबन्धित कुछ अन्य प्रमाण भी यहा दिये जाते हैं।

तं सखाय: पुरोरुचं यूयं वयं च सूरय: ।
अश्याम वाजगन्ध्यं सनेमवाजपस्त्यम् ॥ ऋ० ६।१६।१२

अर्थात् हे मित्रो! तुम और हम मिल कर बलवर्धक तथा सुगन्ध युक्त अन्न को खावें। अथवा सहभोज करें।

समानी प्रपा सहवोऽन्नभाग: समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभित: ॥ अथर्व ३।३०।६

अर्थात् हे मनुष्यो! तुम्हारे पानी पीने के स्थान और तुम्हारा अन्न सेवन अथवा खान-पान एक साथ हो। मैं तुम सब को एक ही प्रकार के नियमों के बन्धन मे जोडता हू। तुम सब मिलकर इस प्रकार अग्निहोत्र आदि सार्वजनिक तथा सर्वोपकारक यज्ञों को करो जिस प्रकार नाभि मे अरे दृढ़ता से जुडे रहते हैं।

पहिले मन्त्र मे सब मनुष्यों को मिल जुलकर खाने का

आदेश दिया गया है, किसी को अछूत नहीं बताया गया। दूसरे मन्त्र में वेद मनुष्यों को पहिये की नाभि से मिले हुये अरों की भाँति मिलकर खानपान तथा यज्ञ आदि करने की आज्ञा देता है। इससे भी स्पष्ट है कि वेद छूत अछूत के भेद को नहीं मानते।

ब्राह्मणाः भुंजते नित्यं नाथवन्तश्च भुंजते।
तापसा भुंजते चापि, श्रमिणश्चैव भुंजते॥ वा. रा. सु. श्लो. १२

अर्थात्--महाराजा दशरथ के यज्ञ में शूद्रों का पकाया हुआ भोजन ब्राह्मण, तपस्वी और शूद्र मिल कर करने लगे।

अन्तरापणः वीथ्यश्च, सर्वे च नट-नर्तकाः।
सूदानार्यश्च बहवो, नित्यं यौवनशालिनः॥
वा. रा. ऊ. सु. श्लो. ६१

अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी अपने यज्ञ के लिये आज्ञा देते हैं कि सब बाजार के व्यापारी नट, नर्तक सूद और रसोई बनाने वाली स्त्रियां भरतजी के साथ जावें।

तौ दृष्ट्वा तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः।
पादौ जग्राह रामस्य लक्ष्मणस्य च धीमतः॥ ६
पाद्यमाचमनीयञ्च सर्वं प्रादाद् यथाविधि। ७ वा. रा. सु. काण्ड

अर्थात् जब श्रीरामचन्द्रजी शबरी (भीलिनी) के आश्रम में गये तो उन दोनों भाइयों को देख कर वह हाथ जोड़ कर उठी। पांव छुये और यथाविधि पाद्य आचमन दिया। इसी प्रकार

वा. रा. अयोध्या का. श्लो. ३३-३४ में लिखा है कि जब महाराज रामचन्द्रजी अपने परम मित्र निषादराज गुह के यहां पहुंचे तो बड़े प्रेम से उसका आलिंगन किया और उसका आतिथ्य स्वीकार किया। इन प्रमाणों से विदित है कि रामायण काल में भी भील, गोंड, निषाद और शूद्र अछूत नहीं थे।

आरालिकाः सूपकाराः रागखण्डविकास्तथा ।
उपातिष्ठन्त राजानं धृतराष्ट्रं यथा पुरा ॥
म० भा० आ० पर्व, १।१६।

अर्थात्–राजा धृतराष्ट्र के यहां पूर्व के ही सदृश आरालिक और सूपकार आदि शूद्र भोजन बनाने वाले नियत हुए।

मनु महाराज लिखते हैं :—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुःकर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णाना शुश्रुषामनुसूयया ॥ मनु० १।६१

अर्थात् प्रभु ने शूद्रों का एक ही कर्म बताया है कि वे तीनों वर्णों की निन्दा रहित सेवा करें।

गरुड़पुराण अध्याय ४६ में शूद्रों का काम द्विजों की सेवा करना बताया है और जीवन-निर्वाह के लिये काश्त अथवा शिल्प कार्य अर्थात् लुहार, तरखान, कुम्हार आदि के काम तथा धर्म से पाक-यज्ञ (रसोई का काम) भी करें। ऐसा ही वराहपुराण में भी लिखा है।

उक्त प्रमाणों से विदित है कि स्मृतियों तथा पुराणों के कर्ता भी शूद्रों को अछूत नहीं समझते थे। यदि वे उनको अछूत

समझते तो उन्हें द्विजों की सेवा के कार्य पर न लगाते। शूद्रों को द्विजों की सेवा का काम देना ही इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि स्मृति तथा पौराणिक काल में भी पौराणिक शूद्र (असत शूद्र) अछूत नहीं थे यदि अछूत होते तो उन्हें द्विजों की सेवा के काम पर न लगाया जाता।

शूद्रों के घरों का अन्न भी भक्ष्य था

स्मृति तथा पुराण काल में न केवल यह कि शूद्र अछूत *नहीं थे अपितु स्मृतियों तथा सूत्र-ग्रन्थों में उनके घर का बना* हुआ अन्न खाना भी विहित था। पीछे उद्धृत किये गये वैदिक तथा आर्ष प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि वेद सब लोगों को मिलकर खान-पान का आदेश करते हैं और शूद्र यज्ञों में भी रसोई बनाते और द्विजों के साथ बैठ कर भोजन करते थे। इस विषय के कुछ और भी प्रमाण यहां उद्धृत किये जाते हैं।

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।

याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात्॥ मनु ११।१८०॥

अर्थात्—एक वर्ष तक पतितों के साथ मिलकर यज्ञ कराने पढ़ने और योनि सम्बन्ध से मनुष्य पतित हो जाता है परन्तु एक आसन और एक यान पर बैठने तथा सहभोज करने से पतित नहीं होता।

इस श्लोक में मनु महाराज ने पतितों [अनार्यों] को भी अछूत नहीं माना, शूद्र तो आर्य हैं वह कैसे अछूत हो सकते

हैं। जैसा कि निम्न श्लोक में उन्हें भोज्यान्न माना है —

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दास नापितौ ।

ऐते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ मनु ४ । २५३

अर्थात् आधे पर काम करने वाले किसान, कुलमित्र, दास, नाई और जो यह कहे कि मैं तुम्हारा हूँ, इन शद्रों का अन्न खा लेना चाहिये ।

ऐसा ही एक श्लोक कूर्मपुराण ७ । १६ में भी आया है परन्तु वह 'आर्धिक' की जगह 'आत्विज' शब्द से आरम्भ हुआ है । इससे आगे यह श्लोक भी है —

कृषीवला कुम्भकारः क्षेत्रकर्मक एव च ।

ऐते शूद्रेषु भोज्यान्ना दत्वा स्वल्प पणं बुधैः ॥ कूर्म पु० ७ । १६ ।

अर्थात्—किसान, कुम्हार तथा खेत में काम करने वाले शूद्रों का अन्न खा लेना चाहिये। और उन्हें उसका कुछ मोल भी दे देना चाहिये ।

यवगोधूमशालीनां अन्नं चैव सुसंस्कृतम् ।

दीयतां मे क्षुधार्ताय त्वामुद्दिश्यागताय च ॥

वराहपुराण १८ । ११

अर्थात्—दुर्वासा ऋषि एक व्याध [कसाई] के घर जाकर बोले—'हे व्याध मैं बहुत भूखा हूँ मुझे जौ, गेहूँ, चावल आदि अन्न उत्तम सत्कार के साथ तैयार किया हुआ भोजन दो क्योंकि मैं इस आशा से तुम्हारे घर आया हूँ कि मुझे यहां भोजन मिलेगा।' (ऋषि ने कसाई से अन्न ही मांगे हैं मांस

नहीं)। दुर्वासा के वचन सुनकर व्याध के घर में जो भोजन था वह उसने ऋषि को दे दिया। आगे श्लोक ३० में लिखा है कि जब दुर्वासा की क्षुधा दूर हो गई तो ऋषि ने प्रसन्न होकर रहस्य और अंग सहित उसको वेद पढ़ाये। इससे विदित है कि उस समय अन्त्यजों के घर भी भोजन कर लिया जाता था और उन्हें वेद भी पढ़ाये जाते थे।

कूर्म पुराण ७। १६, व्यास स्मृति ३। ५१, पाराशर स्मृति ११। ८२, वृहत्पाराशर स्मृति अ० ६ में भी उक्त शूद्रों को भोज्यान्न लिखा है। [भोज्यं अन्नं यस्य सः भोज्यान्नः—जिसका अन्न भोजन करने योग्य है वह भोज्यान्न है]।

सर्ववर्णानां स्वधर्मे वर्तमानानां भोक्तव्यम्० ॥ १३।

आपस्तम्ब १—६—१८॥

अर्थात्—अपने २ धर्म में वर्त्तमान सब वर्णों का भोजन खाने योग्य है।

स्मृतियों पुराणों तथा सूत्रग्रन्थों में शूद्रों के हाथ और घर का अन्न खाने की व्यवस्था ही नहीं दी गई बल्कि इसके अनुसार शूद्र सदा ही द्विजों के घर रसोई आदि बनाते रहे और द्विज उनके घरों का अन्न भी खाते रहे।

पाठक वृन्द! पीछे मैंने शूद्रों के हाथ और घर के अन्न खाने को विहित बतलाने वाले कुछ प्रमाण उद्धृत किये हैं। परन्तु स्मृति, सूत्र आदि ग्रन्थों में कुछ प्रमाण ऐसे भी मिलते हैं जिनमें शूद्र के घर का अन्न खाने का निषेध किया है। यदि उन

को भी बिना किसी हेतु विशेष अथवा प्रयोजन के ठीक मान लिया जाये तो जहां उन दोनों में परस्पर विरोध आयेगा वहाँ उन ऐतिहासिक प्रमाणों के और मनु जी के इस आदेश के विरुद्ध ठहरेगा कि शूद्रों का काम द्विजों की सेवा करना है क्योंकि यदि वे अछूत हों तो सेवा कैसे कर सकते हैं। इसलिये हम अपनी ओर से इसका कुछ उत्तर न देकर उनके परस्पर समन्वय का जो हेतु सूत्रग्रन्थों में मिलता है वही पाठकों के समक्ष रखते हैं :—

अप्रयतेन शूद्रेण उपहृतमभोज्यम्। आपस्तम्ब धर्मसूत्र २१

अर्थात्—अस्वच्छ शूद्र का लाया हुआ अन्न अभोज्य है।

आर्याः प्रयता वैश्वदेवे अन्नसंस्कर्तारः स्युः ॥ १ ॥

भाषां कासं क्षवथुं इत्यभिमुखो अन्नं वर्जयेत् ॥ २ ॥

केशानङ्गं वासश्च आलभ्य उपस्पृशेत् ॥ ३ ॥

आर्याधिष्ठिता वा शूद्राःसंस्कर्तारः स्युः ॥ ४ ॥

तेषां च एवाचमनकल्पः ॥ ५ ॥

अधिकमहरहः केशश्मश्रुलोमनखवापनम् ॥ ६ ॥

उदकोपस्पर्शनं च सह वाससा ॥ ७ ॥

अपि वा अष्टमीष्वेव पर्वसु वा वपेरन् ॥ ८ ॥

परोक्षमन्नं संस्कृतं अग्नावधिश्रित्य अद्भिः प्रोक्षेत्।

तद्देवपवित्रमित्याचक्षते ॥ ९ ॥ आपस्तम्ब धर्मसूत्र

अर्थात्—आर्यों को शुद्ध होकर वैश्वदेव (परिवार) के लिये भोजन बनाना चाहिये (१)। अन्न के सम्मुख मुँह

करके बोलना खाँसना और थूकना नहीं चाहिये (२)। बालों अंगों या वस्त्रों को हाथ लगे तो उसे धो लेना चाहिये (३)। अथवा आर्यों की देख-रेख में शूद्र भोजन बनावे (४)। तो वे आर्यों के समान ही आचमन आदि करें (५)। वे प्रतिदिन बाल दाढ़ी बनवायें, नाखून कटवायें (६)। कपड़ा पहन कर स्नान करें (७)। अथवा प्रत्येक अष्टमी या प्रत्येक पर्व के दिन बाल आदि बनवायें (८)। यदि भोजन परोक्ष में बनाया गया हो तो आर्यों को चाहिये कि उसे दोबारा गरम कर लें। ऐसा करने से वह भोजन सर्वथा पवित्र और देवों के भी खाने योग्य हो जायेगा।

उक्त प्रमाणों से निम्नलिखित बातों का बोध होता है :—

(क) उन शूद्रों का अन्न खाने का निषेध है जो कि अशुद्ध और मलिन हों।

(ख) शूद्र होकर भोजन बनाने का जैसा नियम आर्यों (ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और वैदिक शूद्र) के लिये है वैसा ही नियम शूद्रों (पौराणिक शूद्रों, वैदिक दस्युओं) के लिये है। उनके लिए कोई अनोखा नियम नहीं है।

(ग) उक्त उद्धरणों में वर्णित शुद्धि के नियमों से यह भी ज्ञात होता है कि सूत्रकाल में आर्यों में स्वच्छतापूर्वक भोजन बनाने के नियम वैद्यक (Medical Science) के अनुसार थे। परन्तु उसके पश्चात् यह वहम की सीमा तक पहुंच गये और

कल्पित जाति भेद मान कर एक दूसरे के घर का खाना पीना छोड़ दिया और हिन्दू मात्र में छूत-छात फैल गई।

पौराणिक शूद्रों और पतितों की कन्याओं से भी विवाह विहित था

न केवल यह कि शूद्र पतित और अछूत नहीं थे और उनका बनाया हुआ अन्न खाना विहित था अपितु उनकी कन्याओं से विवाह करना भी जायज़ था। यथा :—

कन्या समुद्वहेदेषां सोपवासामकिंचनाम्। २६१ याज्ञवल्क्य स्मृति

अर्थात पतितों की कन्या को विवाह ले। जो उनके धन से रहित हो और जिसने उपवास किया हो।

पाठक महोदय! स्मृति के इस पाठ को पढ़कर चकित न हों। क्योंकि स्मृतिकार ने जो कुछ लिखा है वह युक्ति-युक्त और बुद्धि-सम्मत है। पतित तो चोरी आदि दुष्ट कर्मों के करने से पतित हुए हैं, परन्तु उनकी कन्याओं में यह दोष नहीं होता, इसलिए उनको पतित भी नहीं माना जा सकता। स्मृतिकार ने पतितों का अधर्म से एकत्रित किया हुआ धन लेने का भी स्पष्ट निषेध कर दिया है। साथ ही उपवास का प्रतिबन्ध भी इस लिये लगाया है कि यदि कन्या ने पतितों के घर में रहते हुए कभी अभक्ष्य भोजन किया है तो वह उपवास करके शुद्ध हो जाये। मनुस्मृति में भी लिखा है—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥ मनु० ३ ॥१३॥

अर्थात् शूद्र शूद्र की कन्या से, वैश्य वैश्य और शूद्र की कन्या से, क्षत्रिय क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की कन्या से और ब्राह्मण चारों वर्णों में से किसी भी वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता है।

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ४७ श्लोक ३, ४ में भी ब्राह्मणों को चारों वर्णों की कन्या से विवाह करने की इजाजत दी गई है इससे विदित होता है कि शूद्र अछूत नहीं थे। मनु ने तो यहां तक भी लिख दिया।

स्त्रियो रत्नानि अथो विद्याधर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥ मनु० २। २४०

अर्थात् स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शौच, अच्छे वचन और अनेक प्रकार की शिल्प विद्या सब से ग्रहण कर ले।

ऊपर के प्रमाणों में पतितों तथा शूद्रों की कन्याओं से विवाह करने की जो व्यवस्था दी गई है उसके अनुसार विवाह होते भी रहे हैं। यथा :—

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।
शारंगी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्॥ मनु० ६। २३

अर्थात् अधम योनि में उत्पन्न अक्षमाला वसिष्ठ से तथा शारंगी मन्दपाल से विवाह करके पूज्य बनीं।

भविष्य पुराण ब्रह्म पर्व अध्याय ४२ श्लोक २२, २३, २४, में लिखा है कि कैवर्त स्त्री से व्यास जी का, श्वपाकी (चाण्डाली)

थे। यही कारण था कि पतितों की कन्याओं से पतित घराने में उत्पन्न होने वाले मनुष्य भी वेद अध्ययन और तप के प्रभाव से सब के पूज्य ऋषि मुनि बने।

ऊपर उद्‌धृत किए गए प्रमाणों से यह भी सिद्ध होता है कि वर्ण को जन्म मूलक मानने वाले भाई जिस सवर्ण विवाह के लिए, तथा एक ही वर्ण में अनेक प्रकार की आधुनिक कल्पित जात-पात को भी वर वधू के चुनाव के समय ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक समझते हैं, और भिन्न-भिन्न वर्ण मे उत्पन्न होने वाले लड़का लड़की के विवाह तथा उनकी सन्तान को (वर्ण-सङ्कर) अत्यन्त निन्दित समझते है। यह प्रथा प्राचीन काल में बिल्कुल न थी क्योंकि माने हुए धर्म-ग्रंथों मे इस प्रथा के विरुद्ध ऐसे वेदज्ञ मुनियों और राजाओं के प्रमाण मिलते हैं जो कि हिन्दू संसार के परम पूज्य और शास्त्रों के कर्त्ता थे। फिर मालूम नहीं कि भिन्न-भिन्न वर्णों मे उत्पन्न हुए समान आचार विचार तथा स्वभाव वाले वर, वधू के विवाह और उनकी संतान क्यों दूषित मानी जाती है। मनुस्मृति अ० ६ श्लोक २२मे तो साफ लिखा है कि जिस प्रकार के पति के साथ स्त्री विवाह करती है वैसी ही गुण वाली वह हो जाती है। इस से आगे २३ वें श्लोक में अक्षमाला और शारंगी का प्रमाण भी दिया है जो कि वसिष्ठ और मन्दपाल से विवाही गई थीं। इतना ही नहीं अपितु मनु स्मृति अध्याय २ श्लोक १८ में ब्रह्मावर्त के वर्णों तथा वर्ण-संकरों

के आचार को सदाचार बतलाया है।

इसके अतिरिक्त जन्ममूलक सवर्ण विवाह के पक्षपाती भाई वर्णों को जन्ममूलक मानते हुए भी स्त्रीमात्र को शूद्र मानते हैं। इनके इस वदतोव्याघात् दोषयुक्त मन्तव्य से जन्ममूलक समान वर्णों में उत्पन्न स्त्री पुरुषों के हुए सारे विवाह ही असवर्ण हो जाते हैं क्योंकि उनके अपने मत के अनुसार ही पुरुषों के जन्ममूलक सवर्ण होने पर भी उनकी स्त्रियाँ उनके विचार से, असवर्ण अथवा शूद्र हैं। आर्यसमाजी और कई एक स्वतन्त्र विचार वाले कई युवक पहले ही शुद्ध हुई हुई कन्याओं से विवाह कर लेते थे और अब तो आर्यसमाज ने अन्तर्जातीय विवाह बिल पास करा कर क्रियात्मक रूप से जन्ममूलक वर्ण मानने वालों के सवर्ण विवाह तथा जात-पात के कानूनी बन्धनों को भी निर्मूल कर दिया है क्योंकि इससे पूर्व जात-पात के बन्धनों को तोड़ने के इच्छुक भाई इस भय से जात बिरादरी से बाहर विवाह नहीं करते थे कि कानूनी तौर पर उनकी संतान पितृ-सम्पत्ति पाने की अधिकारी नहीं रहेगी, वह अब निर्भय होकर अंतर्जातीय विवाह कर रहे हैं। आशा है कि ऐसे विवाहों के प्रचलित हो जाने पर भेदभाव के बढ़ाने वाली जन्म मूलक जात-पात भी नहीं रहेगी और हिन्दू समाज मिथ्या जातपात छूताछूत के रोग से निरोग होकर संगठित हो जाएगा।

———

आर्यों ने बाहिर से आकर आदि-निवासी कहे जाने वालों को अछूत नहीं बनाया

शूद्रों को अछूत और दास बनाए जाने की एक और कहानी यह भी है कि "आर्य लोग भारतवर्ष के असली निवासी नहीं हैं। बल्कि इन्होंने मध्य एशिया (मैसोपोटेमिया) से आकर भारत के आदि निवासियों को पराजित करके भारतवर्ष को अपना निवास स्थान बना लिया है। विजित आदि-निवासियों में से जिन्होंने विजेता आर्यों के दासत्व को स्वीकार कर लिया, आर्यों ने उन्हें शूद्र दास तथा अछूत बना दिया और इनसे सेवा का काम लेने लग गए और जिन्होंने दासत्व को स्वीकार नहीं किया वह जंगलों और पहाड़ों में जा बसे जो कि आजकल गोंड भील आदि कहलाते हैं।"

इस कहानी के आरम्भ करने वाले मैकडानल, कीथ, रैपसन, स्मिथ और जर्मन निवासी प्रोफेसर वैंकलेयर आदि पश्चिमी ऐतिहासिक हैं। जिन्होंने मध्य ऐशिया के सुमेरिया, मैसोपोटेमिया प्रदेश के बेबीलोनिया, असीरिया और टर्की तथा फिलस्तीन के प्राचीन नाम 'कपादोप' के बोगाज़ कुई आदि प्राचीन नगरों के भग्नावशेषों (खंडरात) से निकले हुए शिलालेखों के आधार पर इतिहास लिखे कहे जाते हैं। ऐतिहासिकों की उक्त सम्मति के प्रकाशित होने पर योरुप निवासी तो आर्यों को भारतवर्ष में विदेश से आए हुए मानने लग गये और उन्होंने उक्त कल्पित कहानी को

एक प्रमाण नीचे लिखता हूँ।

मेरे सामने इस समय 'आर्यों के धोके से बचो' नाम का एक हिन्दी ट्रैक्ट है जिसको 'अहमदिया अंजमन अशायत-इसलाम' लाहौर ने १९२७ में दलित उद्धार का काम करने वाले आर्यसमाज के विरुद्ध प्रोपेगण्डा करने और दलित बन्धुओं से पृथक् प्रतिनिधित्व लेने के लिए उत्तेजित करने के लिए ७००० की संख्या मे छपवाया था। इस ट्रैक्ट में अंजमन ने बाबू रामचरण साहिब, वकील हाईकोर्ट, इलाहाबाद के उस भाषण का संक्षेप रूप से उल्लेख किया है जो कि उन्होंने आदि हिन्दू कांग्रेस प्रयाग के सभापति के पद से किया था में उसके उस भाग को छोडकर जिसमे आर्यसमाज को कोसा गया है, केवल बाबू रामचरण जी के भाषण से थोडा सा उद्धृत करता हूँ:—

"अपने मुह मिया मिट्ठू नेक बनने वाली जाति (आर्य-जाति) इस स्वर्ण भूमि पर आई और यहा के रहने वाली जाति से युद्ध आरम्भ किया और यहा रहने वाली जाति को अनार्य या दस्यु की उपाधि वेद मे दी। ऋग्वेद ईश्वर की वाणी कही जाती है परन्तु यह सब बातें राजनैतिक ही थीं उसको चाहे कितना ही धार्मिक रंग दिया जाए। यहा के निवासी बडे ही बलवान थे परन्तु सीधे सादे और छल-कपट रहित थे, को दास अथवा शूद्र बना दिया। शूद्र वैदिक समय मे जाति या वर्ण का नाम न था जैसा अब समझा जाता है, बल्कि बिलकुल सार्थक शब्द था अर्थात् शूद्र का अर्थ 'दास' था।' पृष्ठ सं १७ ॥

फिर पृष्ठ १० पर "हमारी मुक्ति देशी स्वत्वों के बँटवारा में है" इस शीर्षक के नीचे लिखा है :—

'गौरमेन्ट से हम पुकार कर कह रहे हैं कि दो एक स्थान जो कौंसिल या लोकल वाडीज में है, उसने अपनी ओर से दिए हैं। उसको हम धन्यवाद देते हैं। परन्तु इससे हमारी जाति को कोई लाभ नहीं हो सकता, जब तक हमारी जाति को स्वयं आबादी के हिसाब से अपने मैम्बर निर्वाचन करने का अधिकार न दिया जाएगा, तब तक हमारी जाति उन्नति नहीं कर सकती। इस दावे की पूर्ति के वास्ते सरकार पर कुछ भी भार न पड़ेगा। हम तो चाहते हैं कि जो स्वत्व हमारे नाम से लिए जाते हैं, वही पृथक २ कर दिए जाएँ, हमारे हिस्सेदार हम तक नहीं पहुँचने देते, इसलिए पृथक कर दिए जाएं। फिर देखिये हम क्या स्वामी भक्ति दिखलाते हैं।"

फिर पृष्ठ १४ पर 'आदि हिन्दू प्रबोध" के शीर्षक के के नीचे लिखा है :—

"हमारे भाग्य से आई हुई जो बृटिश गौरमेन्ट है, उसके सुशासन में हमें उन्नति करने दीजिए इत्यादि।"

बाबू रामचरण जी के उद्धृत किए गए उक्त भाषण को पढ़ कर पाठकों को ज्ञात हो जाएगा कि पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने ईमानदारी से, भूल से, अथवा राजनैतिक पालिसी की दृष्टि से आर्यों के मध्य एशिया से भारतवर्ष आने की जो कल्पित

योरुप के कैंम्ब्रिज आदि कालिजों के कोर्स में भी रख दिया। दुर्भाग्य से भारतवर्ष में पश्चिमी शासकों का राज्य था, जिनकी शुरू से ही यह नोति थी कि भेदभाव को बढ़ाओ और राज्य करो (Devide and rule)। उसके लिए उक्त कहानी भारतीय राष्ट्र में भेद बढ़ाने का बहुत उपयोगी साधन था। अतः उन्होंने भारत के स्कूलों और कालिजों के ऐतिहासिक कोर्स की पुस्तकों में भी इसे रख दिया। परंतु ऐसा करने पर भी भारत में इस काल्पनिक घटना को वही लोग जानते थे जिन्होंने स्कूलों और कालिजों में इस इतिहास को पढ़ा था अथवा जिन्होंने योरुपियन ऐतिहासिकों के लिखे हुए ऐतिहासिक ग्रन्थ पढ़े थे। भारत की साधारण जनता को इसका ज्ञान न था। किंतु जब विदेशी गवर्नमेन्ट ने भारतीय राष्ट्र को विभक्त करके उसे निर्बल करने के लिए सरकारी विभागों, संस्थाओं में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की रीति प्रचलित कर दी अथवा सम्मिलित निर्वाचन (Joint electorate) के स्थान में चुनाव भी सम्प्रदायों का अपना अपना कर दिया तब से दलित हिन्दू श्रेणियों में जो भाई सरकारी महकमों में अधिकारों और राजनीतिक संस्थाओं में मैम्बरी पाने के इच्छुक थे उन्होंने भी विदेशी शासन की अभीष्ट सिद्धि के उक्त साधन से अपने भोले भाइयों को उत्तेजित करके, आदि निवासी सभाएं बनाई। अपने प्रचारकों 'अछूतानन्द' आदि भेद-भाव के बढ़ाने वाले नाम रखे। हिन्दू-इतर मतवादी (मुसलमान, ईसाई आदि) जो कि दलित हिन्दू श्रेणियों के हिन्दुओं से पृथक् करके भारतीय राष्ट्र को

निर्बल और उन्हें अपने मतावलम्बी बनाना चाहते थे वह भी प्रोपेगण्डा मे उनके सहायक बन गए। विदेशी गवर्नमेन्ट तो यह सब चाहती ही थी अपितु यह कहना भी अत्युक्ति न होगी कि यह सब उसी की उकसावट से हुआ था इसलिए अधिकारों के उत्सुक दलित बन्धुओं को कुछ सफलता भी हुई।

इस प्रकार सन् १६०७ अथवा कुछ वर्ष पूर्व पश्चिमी ऐतिहासिका ने जिस अपनी पूर्वोक्त निराधार कल्पना का उल्लेख अपने इतिहासों मे किया और भारतीय विदेशी शासन ने भी स्कूलों कालिजों की इतिहासिक पुस्तकों मे भी उसका उल्लेख कर दिया, उसका दुष्परिणाम १६२७ मे क्रियात्मक रूप से निकलना आरम्भ हो गया। और भारत हितैषी सज्जन जिस छूआछूत को मिटाना चाहते थे, उसको सरकारी अधिकारों के उत्सुक दलित बन्धुओं और उनके सहायक स्वार्थी मतवादियों ने दृढ बनाए रखने का कार्य किया। क्योंकि दलित श्रेणियों के हिन्दुओं से पृथक् रहने मे ही उन्हें उनके वोटों से प्रतिनिधित्व मिल सकता था।

मेरी आयु इस समय ८२ वर्ष की है। मैंने आर्यसामाजिक क्षेत्रों मे लगभग ४० वर्ष तक दलित उद्धार का क्रियात्मक कार्य किया। मैंने ऊपर जो कुछ दलित बन्धुओं के सम्बन्ध मे लिखा है वह अपनी आखों देखा और कानों सुना हुआ लिखा है। समाज-सुधार का काम करने वाले बडी उमर के सज्जन भी इस बात को भली प्रकार जानते हैं, इसलिए इसके वास्ते किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं तथापि पाठकों की जानकारी के लिए

एक प्रमाण नीचे लिखता हूँ।

मेरे सामने इस समय 'आर्यों के धोके से बचो' नाम का एक हिन्दी ट्रैक्ट है जिसको 'अहमदिया-अंजमन-अशायत-इसलाम' लाहौर ने १६२७ में दलित उद्धार का काम करने वाले आर्यसमाज के विरुद्ध प्रोपेगण्डा करने और दलित बन्धुओं से पृथक् प्रतिनिधित्व लेने के लिए उत्तेजित करने के लिए २००० की संख्या में छपवाया था। इस ट्रैक्ट में अंजमन ने बाबू रामचरण साहिब, वकील हाईकोर्ट, इलाहाबाद के उस भाषण का सन्क्षेप रूप से उल्लेख किया है जो कि उन्होंने आदि-हिन्दू कांफ्रेन्स प्रयाग के सभापति के पद से किया था मैं उसके उस भाग को छोड़कर जिसमें आर्यसमाज को कोसा गया है, केवल बाबू रामचरण जी के भाषण से थोड़ा सा उद्धृत करता हूँ:—

"अपने मुंह मियां मिट्ठू नेक बनने वाली जाति (आर्य-जाति) इस स्वर्ण-भूमि पर आई और यहां के रहने वाली जाति से युद्ध आरम्भ किया और यहां रहने वाली जाति को अनार्य या दस्यु की उपाधि वेद में दी। ऋग्वेद ईश्वर की वाणी कही जाती है परन्तु यह सब बातें राजनैतिक ही थीं उसको चाहे कितना ही धार्मिक रंग दिया जाए। यहां के निवासी बड़े ही बलवान थे परन्तु सीधे सादे और छल-कपट रहित थे, को दास अथवा शूद्र बना दिया। शूद्र वैदिक समय में जाति या वर्ण का नाम न था जैसा अब समझा जाता है, बल्कि बिलकुल सार्थक शब्द था अर्थात् शूद्र का अर्थ 'दास' था।" पृष्ठ स १२॥

फिर पृष्ठ १० पर "हमारी मुक्ति देशी स्वत्वों के बँटवारा में है" इस शीर्षक के नीचे लिखा है :—

'गौरमेन्ट से हम पुकार कर कह रहे हैं कि दो एक स्थान जो कौंसिल या लोकल बाडीज में है, उसने अपनी ओर से दिए हैं। उसको हम धन्यवाद देते हैं। परन्तु इससे हमारी जाति को कोई लाभ नहीं हो सकता, जब तक हमारी जाति को स्वयं आबादी के हिसाब से अपने मैम्बर निर्वाचन करने का अधिकार न दिया जाएगा, तब तक हमारा जाति उन्नति नहीं कर सकती। इस दावे की पूर्ति के वास्ते सरकार पर कुछ भी भार न पड़ेगा। हम तो चाहते हैं कि जो स्वत्व हमारे नाम से लिए जाते हैं, वही पृथक २ कर दिए जावें, हमारे हिस्सेदार हम तक नहीं पहुँचने देते, इसलिए पृथक कर दिए जाए। फिर देखिये हम क्या स्वामी भक्ति दिखलाते हैं।"

फिर पृष्ठ १४ पर 'आदि हिन्दू प्रबोध" के शीर्षक के के नीचे लिखा है —

"हमारे भाग्य से आई हुई जो वृटिश गौरमेन्ट है, उसके सुशासन मे हमे उन्नति करने दीजिए इत्यादि।"

बाबू रामचरण जी के उद्धृत किए गए उक्त भाषण को पढ कर पाठकों को ज्ञात हो जाएगा कि पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने ईमानदारी से, भूल से, अथवा राजनैतिक पालिसी की दृष्टि से आर्यों के मध्य एशिया से भारतवर्ष आने की जो कल्पित

सम्मति प्रगट की थी, उससे जहाँ भारत की विदेशी गौरमेन्ट ने स्वदेशी तथा विदेशी की विभाजन नीति द्वारा भारतीयों में एक दूसरे के विरुद्ध द्वेष उत्पन्न करके पूरा लाभ उठाया, वहाँ भारतीय राष्ट्र के विरोधी मतवादियों तथा कुछ एक राजनैतिक अधिकार प्राप्ति के लोलुप दलित बन्धुओं ने भी सरकार का भक्त बनकर ऐतिहासिकों की उक्त कल्पित सम्मति से लाभ उठाने के लिए भरसक प्रयत्न किया, और उक्त सम्मति को जन साधारण में फैलाया।

बाबू जी ने वेदों में जो 'शूद्र' तथा 'दस्यु' अथवा 'दास' की मिथ्या स्थिति जनसाधारण को भड़काने के लिए बतलाई है, उसका उत्तर इस पुस्तक में आ चुका है। इसलिए उस पर अधिक न लिख कर पाश्चात्य ऐतिहासिकों की इस कल्पना—"आक्रमण द्वारा आर्यों ने मध्य एशिया से भारत में आकर भारतवर्ष के आदि निवासियों को युद्ध में जीतकर उन्हें दास और अछूत बना दिया"—के मिथ्यात्व को सिद्ध करने वाले कुछ प्रमाण नीचे लिखे जाते हैं —

१. भारतीय साहित्य में आर्यों के बाहर से आने वाली घटना का कहीं पर भी उल्लेख नहीं है। यह सम्भव नहीं हो सकता कि आर्यों जैसे सभ्य राष्ट्र के इतिहास में सदा के लिये निवास-स्थान परिवर्तन करने जैसी कोई बड़ी भारी घटना

हुई होती तो उनके समस्त साहित्य में कहीं पर भी उसका कोई उल्लेख न होता।

२ योरुप के प्रसिद्ध ऐतिहासिक महोदय पार्जीटर (जिन्होंने 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा" के लेखक के अनुसार ३० वर्ष पर्यन्त भारतीय इतिहास की खोज की है) लिखते हैं —

"कई प्रचलित विश्वासों का, जैसे इस बात का कि आर्य लोगों ने उत्तर पश्चिम से भारत पर चढाई की थी, यह इतिहास जरूर विरोध करता है। किन्तु यह विश्वास स्वयं निराधार है, वह खाली कल्पनाएं हैं, जो कथन स्पष्टप्रमाण पर आश्रित नहीं है। पार्जीटर का यह कथन बिलकुल सही है कि वेद में कोई ऐसी बात नहीं है जो आर्यों का वायव्य कोण से आना प्रमाणित करती हो"।
(भारतीय इतिहास की रूपरेखा जिल्द १ पृष्ठ २३६)।

३ मैं भारत के आदि निवासी कहलाने वाला तथा उनको आर्यों का भारतवर्ष में बाहर से आने का पाठ पढाने वाला से प्रेमपूर्वक पूछता हूँ, कि भारत के आदि निवासी कहलाने वाले भारत में ही उत्पन्न हुए हैं या वह भी भारत से कहीं बाहर से ही आए हैं ? यदि भारतवर्ष में ही उनका उत्पन्न होना कहें तो इसका प्रमाण बतलाएं, यदि बुद्धि-सम्मत प्रमाण पेश करेंगे तो वैज्ञानिकों की मुश्किल को भी हल कर देंगे क्योंकि वह कहते हैं कि हमें मालूम नहीं कि मानवी सृष्टि सबसे पहले

कहाँ हुई। और यदि वह भी बाहर से आए हैं तो बतलाएं कहाँ से और कब आए? और बाहर से आने वाले आदि निवासी भी नहीं कहला सकते।

४. जन-विज्ञान के विद्वानों ने मानव जाति के आर्यन, मंगोलियन और नीगरो तीन ही वंश माने हैं। इसलिए आदि निवासी कहलाने वाले और उनके समर्थक बतलाएं कि यदि वह आर्य नहीं हैं तो क्या वह मंगोलियन या नीगरो (हब्शी) हैं? यदि वह पिछले दोनों वंशों में नहीं हैं तो उन्हें मानना पड़ेगा कि वह भी आर्य वंश में से ही हैं। जैसा कि मैंने इस पुस्तक में प्रमाणपूर्वक सिद्ध किया है और आगे चलकर इसको सिद्ध करने वाले और भी प्रमाण उद्धृत करूंगा।

५. वंशों (नस्लों) की पहिचान के लिए वैज्ञानिकों ने निम्न साधन निश्चित किए हैं। रंग, खोपड़ी की लम्बाई-चौड़ाई, नासिका मान, दोनों आँखों के बीच नाके के पुल का कम या अधिक उठान और भाषा। इन साधनों के आधार पर पश्चिमी ऐतिहासिकों तथा उनके अनुयायी भारतीयों ने जाति-सूचक जो इतिहास लिखे हैं, उनमें भारत में आर्यों से भिन्न किसी आदि निवासी अथवा आदि हिन्दू जाति का उल्लेख नहीं है, केवल द्रविड़ और गोण्ड जाति का उल्लेख है; वह भी आर्यों से उनकी भाषा अथवा बोली के भिन्न होने के कारण। द्राविड़ों के सिर की खोपड़ी की लम्बाई-चौड़ाई आदि भी आर्यों

जैसी है। इसलिए उनका भी आर्यों के वंशज होने का यह प्रबल प्रमाण है। उनकी बोली का भिन्न होना उनके आर्यों के वंशज होने का निषेध नहीं कर सकता क्योंकि वंशज होने का शारीरिक अंगों की समानता ही यथार्थ प्रमाण हो सकता है। भाषा बदल भी सकती है क्योंकि वह जन्म-सिद्ध नहीं है। ईरान यूनानी और योरुप के देशों के निवासियों की भाषा अलग-अलग होने पर भी वैज्ञानिक उन्हें आर्य परिवार में ही मानते हैं। दूर जाने की भी आवश्यकता नहीं भारतवर्ष के भिन्न २ प्रान्तों के निवासी आर्यों तथा आदि निवासी कहलाने वालों की बोलियों में भी भेद है। अर्थात् आदि निवासी कहलाने वाले भी भारत के जिस २ प्रान्त में रहते हैं वहाँ के रहने वाले आर्यों जैसी ही उनकी भी भाषा आदि है। अत वे आर्यों से भिन्न नहीं हो सकते।

पाश्चात्य ऐतिहासिक विद्वानों की यह नसली भेद (Racial discrimination) के बढ़ाने की पालिसी के दुष्परिणाम आज भारत में ही नहीं संसार भर के देशों में दिख रहे हैं। अमरीका तथा दक्षिणी अफ्रीका में हबशियों, भारतीयों और अन्य रंगदार जातियों के प्रति अत्यन्त द्वेषपूर्ण तथा अमानुषी व्यवहार इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं और मानव-सभ्यता पर कलंक रूप हैं। इसी राष्ट्रीय भेद और वंशज गर्व के कारण समस्त योरुप आपस में लड़कर तबाह हो चुका है।

ऊपर लिखे कुछ प्रमाण केवल विपक्षी तो न्याय की दृष्टि से लिख दिए हैं, इनके सम्बन्ध में विशेष विचार मैं अपनी दूसरी पुस्तक में करूंगा, जो आर्यों के भारतवर्ष के असली निवासी होने के पक्ष में लिख रहा हूँ। अब मैं आगे आर्य साहित्य से कुछ ऐसे प्रमाण उद्धृत करूंगा जिनसे यह सिद्ध होगा कि आर्य लोग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) मानवी सृष्टि के आरम्भ में भारत में ही उत्पन्न हुए हैं और सदा से यहीं पर एक साथ रहते चले आ रहे हैं।

चूँकि मैं अथर्व वेद के १२ काण्ड के पृथिवी सूक्त (सू०१) से कुछ प्रमाण आगे दे रहा हूँ। इसलिये उन्हें उद्धृत करने से पहिले यह देखना आवश्यक है कि पृथिवी सूक्त में सारी पृथिवी और तदस्थ जड़ चेतन जगत सम्बन्धी ज्ञान का वर्णन है अथवा पृथिवी के किसी एक भाग और तदस्थ जड़ चेतन जगत का। वेद को अपौरुषेय तथा सार्वभौमिक मानने वाले कई सज्जन अपने मन्तव्य से प्रेरित होकर सूक्त के बिना विचार पूर्वक पढ़े ही यह कह देते हैं—"क्योंकि वेद मनुष्य मात्र के लिये है इसलिये पृथिवी सूक्त में सारे भूमण्डल सम्बन्धी ज्ञान का ही वर्णन किया गया है, किसी एक भूभाग का नहीं"। उनका विचार है कि वेद यदि किसी एक भूभाग के गुण आदि का वर्णन करता है तो वह सार्वभौमिक नहीं रहता। परन्तु मैं उनके इस मन्तव्य से सहमत नहीं हूँ कि पृथिवी सूक्त मे सारी पृथिवी

सम्बन्धी ज्ञान का वर्णन है। क्योंकि पृथिवी सूक्त का मनन पूर्वक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि सूक्त मे जहाँ समस्त भूमण्डल के (भूमण्डल का १ भाग होने के कारण) जल में डूबा हुआ तथा महत आकाश में होना (मत्र ८), अग्नि से व्याप्त (मत्र २१), आकर्षण और चुम्बकीय शक्ति का होना तथा सूर्य के चारों ओर भ्रमण करना (मत्र ४८) आदि सामान्य गुणों (जो उसके समस्त भूभागों मे एक समान पाये जाते है) का वर्णन है, वहाँ उसमें मानवी ससार को अपनी मातृभूमि सबधी गुणों, कर्तव्यों तथा अधिकारो आदि का भी बोध कराया गया है। इसीलिये इस सूक्त को मातृभूमि का सूक्त भी कहते हैं। चूँकि सारी पृथिवी समुद्रो तथा पर्वतों द्वारा भिन्न२ अनेक भूभागो मे बँटी हुई है और प्रत्येक भूभाग के जलवायु तथा आकृति गुणों मे भी प्राय दूसरे भूभागो से भेद है, और प्रत्येक भूभाग मे रहने वालों की मातृभूमि भी वही भाग है जिसमे उनका जन्म हुआ है, जिसमें वह रहते और जिसके जलवायु तथा उपज से उनका जीवन और भरण-पोषण होता है। इसलिये पृथिवी सूक्त जिसमें केवल ६३ मन्त्र हैं, उसमें पृथिवी के सारे भूभागा के गुणा तथा लक्षणों आदि का वर्णन होना सभव हा नहीं है। अत मैं इस विषय मे अपना ओर से इससे कुछ अधिक न लिखता हुआ सूक्त के मन्त्रा से ही यह दिखलाता हूँ कि पृथिवा सूक्त मे पृथिवी के सारे भूभागा का वर्णन है अथवा किसी एक

भूभाग का। और यदि एक भूभाग का वर्णन है, तो वह किस भूभाग का वर्णन है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रश्न के हल करने का साधन इससे अच्छा और नहीं हो सकता।

१. जो भूभाग मंत्र तीन के अनुसार समुद्र और मंत्र ११ के अनुसार वर्फ से ढके हुए पर्वतों (हिमालय) से घिरा हुआ है।

२. जिसमें महासागर, नद, नदी, ताल, झीलें और झरने आदि जलाशय हैं और जिसकी चारों दिशाओं में गेहूँ, चावल आदि अन्न तथा फल, शाक आदि बहुतायत से उत्पन्न होते हैं। (मन्त्र ३, ४)।

३. जिसमे परिचर (सन्यासी व उपदेशक) प्रमाद रहित होकर दिन रात भ्रमण कर भूभाग निवासियों को उपदेश करते हैं। (मन्त्र ६)।

४. जो भूमि बहुत विस्तृत है और जिसमे पर्वत और वन जो कि कृषि कर्म, वृक्षों तथा वनस्पति की उपज के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। जो भूभाग 'विश्वरूपा' है अर्थात् जो विश्व नहीं बल्कि, विश्व जैसा है। (क्योंकि इसमे विश्व के अन्य भू भागों जैसे नमूने भी मिलते हैं) (मन्त्र ११.)

५. जिस भूमि में हवन के पदार्थ विद्यमान और सुरक्षित हैं जिसमें यज्ञ (शाला) में स्तम्भ रखे जाते हैं। जिसमें यजुर्वेद के जानने वाले ऋत्विज यज्ञ करते और कराते तथा ऋग्वेद

तथा सामवेद के जानने वाले ब्राह्मण ब्रह्मा बनकर परमात्मा का पूजन करते हैं। *

६. जिस भूमि में 'पंचकृष्टयः' अर्थात् पॉच प्रकार के काम करने वाले; विद्वान्, शूरवीर, व्यापारी, कारीगर और श्रमजीवी रहते हैं। (मन्त्र ४२) इत्यादि ''' ।

यदि इससे अधिक देखना चाहें तो अथर्ववेद काण्ड १२ के पृथिवी सूक्त (१) को पढ़ें।

पाठकवृन्द, जो विशेषण पूर्वोक्त मन्त्रों में वर्णन किये गये हैं, विचारपूर्वक उनका अध्ययन करने से विना संकोच कहा जा सकता है कि वह विशेषण न तो सारी भूमि के हैं न ही उसके किसी अन्य भूभाग के, बल्कि वे विशेषण आर्यावर्त अथवा भरत भूमि के ही हैं। और मन्त्र ११ में उसका विशेषण 'विश्वरूपा' देकर वेद ने स्वयं इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि पृथिवी सूक्त में जिस मातृभूमि का वर्णन किया गया है वह "विश्व (सारी पृथिवी) नहीं अपितु विश्वरूपा अर्थात् विश्व के सदृश्य है।

सूक्त में भारतीय भूभाग का वर्णन वेद के सार्वभौम होने में बाधक नहीं है क्योंकि सूक्त में जो कुछ वर्णन किया गया है वह ऋग्वेद १०। १६०। १, २, ३ के अनुसार पृथिवी और अदस्थ आदि सृष्टि का नित्य इतिहास है। इसलिये कि प्रत्येक

कल्प में ऐसे ही भूभाग में मानवीय सृष्टि का आरम्भ होता है, जिसमें वृक्ष, वनस्पति, अन्न, फल, शाक आदि २ पशु और मनुष्य आदि प्राणियों के जीवन आधार पदार्थ उत्पन्न हुए और हो सकते हों जिनका वर्णन सूक्त के मन्त्रों में अत्यन्त उत्तमता से किया गया है।

सूक्त के निर्दिष्ट भूभाग में मनुष्योचित जीवन व्यतीत करने के लिये आवश्यक पदार्थों, वेदज्ञ विद्वानों की विद्यमानता, भूभाग की उपजाऊ शक्ति के अस्तित्व, पाशविक तथा मानवीय सृष्टि का स्पष्ट वर्णन इस बात का प्रबल प्रमाण है कि प्रत्येक कल्प के आदि में ऐसे भूभाग में ही भगवान् प्राणी जगत की उत्पत्ति का आरम्भ करते हैं। ताकि सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों की लौकिक तथा पारमार्थिक आवश्यकतायें सुगमता से पूरी हो सकें। जो सज्जन मेरे उक्त वर्णन से सहमत न हों और पृथिवी सूक्त में सारी पृथिवी का ही वर्णन मानते हों, तो सूक्त के मन्त्रों में जो कुछ वर्णन किया गया है, विशेष कर उनमें जो आदि मानवीय सृष्टि का वर्णन है, उसको उन्हें पृथिवी के समस्त भूभागों में सिद्ध करना होगा।

इसके अतिरिक्त सूक्त की भाँति वैज्ञानिकों, भाषा विज्ञानियों, तथा आदि मानवीय सृष्टि की उत्पत्ति पर लिखने वाले अन्य विद्वानों ने भी पृथिवी के किसी एक भूभाग पर ही मानवी सृष्टि का आरम्भ माना है। ऋषि दयानन्द ने भी

मानवीय सृष्टि की उत्पत्ति का आरम्भ तिब्बत मे वतलाया है। तिब्बत से उनका अभिप्राय भा भारत के एक प्रदेश (मध्य हिमालय) का ही है। क्योंकि आदि सृष्टि मे तिब्बत आदि देश विशेष तो थे ही नहीं। यदि वेद मे आये त्रिविष्टुप शब्द से तिब्बत का अर्थ लेंगे तो वेद में देश विशेष का वर्णन मानना पडेगा।

ऋषि दयानन्द का आदि सृष्टि का आरम्भ भारत मे मानना, उनके नीचे लिखे लेख से विदित है :—

"प्रश्न—प्रथम इस देश का नाम क्या था, और उसमे कौन वसते थे ?

उत्तर—इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था। और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे। क्योंकि आर्य लोग सृष्टि के आदि मे कुछ काल पश्चात् तिब्बत से सीधे इस देश मे आकर वसे थे।

प्रश्न—कोई कहते हैं, ये लोग ईरान से आए इसी से इन लोगों का नाम आर्य हुआ है। इनके पूर्व यहाँ जगली लोग वसते थे कि जिनको असुर और राक्षस कहते थे। आर्य लोग अपने को देवता वतलाते थे। जब उनका सग्राम हुआ उसका नाम देवासुर सग्राम कथाओ मे ठहराया।

उत्तर - यह वात सर्वथा झूठ है।"

(सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समु० पृ०२२६)

आर्य उपदेश रत्नमाला के ४०वें रत्न मे भी ऋषि

लिखते हैं :—

"आर्य जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्, विद्या आदि गुण युक्त और आर्यावर्त देश में सब दिन से रहने वाले हैं उनको आर्य कहते हैं।"

ऋषि दयानन्द के उक्त लेखों से स्पष्ट है कि ऋषिवर भी आर्यों का भारतवर्ष मे बाहर से आना नहीं मानते थे बल्कि भारतवर्ष के एक प्रदेश विशेष में ही आदि मानवीय सृष्टि का होना मानते थे जैसा कि पृथ्वी सूक्त वर्णन किया गया है।

श्री प० प्रभुदयाल जी (रोहतक) ने यह आक्षेप किया है कि स्वामी दयानन्द ने भी सृष्टि की उत्पत्ति भारतवर्ष से बाहर तिब्बत में मानी है और तिब्बत जैसे शीत प्रधान देश में आदि सृष्टि नहीं हो सकती।

आक्षेप के पहिले भाग का उत्तर आ चुका है। आक्षेप का दूसरा भाग भी निरर्थक है, क्योंकि पृथ्वी भी सूर्य से अलग हुई है। (सूर्य के गिर्द) भ्रमण करने मे आहिस्ता २ बाहर से ठंडी होती आती है। परन्तु उसके अन्दर अब भी अग्नि है। हिमालय भी पृथिवी की मध्यस्थ अग्नि के प्रकोप से पृथ्वी के क्षुब्ध (कम्पायन) होने पर पृथिवी से बाहर निकल आया, क्योंकि पर्वत इसी पृथिवी से बाहर आते हैं। जैसा कि वेद के निम्न मन्त्र में बतलाया गया है।

य पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्

ऋ० २।१२।२, अथर्व २०।३४।२)

अर्थात्:—पृथिवो व्यथमान—उथल-पुथल कर रही-थी पर्वत भो प्रकुपित—ऊपर आने की चेष्टा कर रहे थे।

वैज्ञानिक पण्डित भो मानते हैं कि हिमालय पृथिवी के ऊपर आने से पूर्व वहुत भूचाल आ रहे थे। हिमालय जिस प्रदेश से वाहर आया था वहां पर पानी भर जाने से समुद्र वन गया। और हिमालय जव वाहर निकला तव वहुत गर्म था। पृथिवी की भाँति वह भी आहिस्ता २ ठंडा होता जा रहा है। उसकी ऊँची शिखरों से मिट्टी आदि वह कर निचले स्थानों में भर जाने से समतल घाटियां (Valley) वन गई। जव हिमालय ठंडा होते-होते वनस्पति आदि के उत्पन्न होने के योग्य हो गया तव सृष्टिकर्त्ता भगवान के प्रवन्ध से अनेक प्रकार के मानवीय जीवन के आधार पदार्थ अर्थात् वृक्ष, कन्द, मूल, अन्न, फल और दूध देने वाल' गाय भैंस आदि पशु भी उत्पन्न हो गए। रहने के लिए पर्वत में कंदराएँ गुहाएँ मीठे जल के स्रोत, शरीर ढाँपने के लिए वल्कल भी विद्यमान थे। और सृष्टि आरम्भ के विश्वव्यापी समुद्रों के ज्वार भाटा से भी वह स्थान, ऊंचा होने के कारण सुरक्षित था। इसलिए वह आदि मानवी सृष्टि के लिए अत्यन्त उपयुक्त था।

यद्यपि सृष्टि आरम्भ में ईश्वर की कृपा से मानव-जाति को शब्दार्थ सम्बन्ध ज्ञान—वेद—ईश्वर रचित पदार्थों के उपयोग तथा व्यवहार सिद्ध के लिए मिला था, तथापि सृष्टि के आरम्भ में कुछ काल तक आदि सृष्टि में उत्पन्न हुए मनुष्यों को पर्वत

के जंगलों में उत्पन्न हुए कन्द मूल तथा गौओं के दूध पर ही जीवन निर्वाह करता था। कारण कि वेद का नियमानता में भी उससे ज्ञान और जबान (भाषा) तथा कृषि आदि को क्रियात्मक रूप से सीखने और अनुभवी होने के लिए पर्याप्त समय चाहिए और कृषि द्वारा संस्कारी अन्न फल आदि पदार्थों की उत्पत्ति के बीज और बैल आदि पशु भी चाहिए जोकि भगवान् के उत्पन्न किए हुए जंगलों और वनों से ही मिलते थे। क्योंकि यह मानना अनिवार्य है कि जितने अन्न फल और शाक आदि सब्जियां आज कृषि द्वारा मनुष्य उत्पन्न करते हैं वह सब सृष्टि के आरम्भ में मानव जाति को जंगलों और वनों से ही मिले थे। मैं स्वयं आसाम के जंगल में दो वर्ष रहा हूँ वहां इस समय भी सब प्रकार के फल और सब्जियें जंगल में मिलती है और गायें और भैंसें भी जंगल में बहुत मिलती हैं, जिन्हें जंगल निवासी पकड़ कर पालतू बना लेते और दूध पीते हैं। इसलिए यह मानना बुद्धि सम्मत है कि मध्य हिमालय में ही आदि मानवी सृष्टि का आरम्भ हुआ क्योंकि वहां पर मनुष्य जीवन के आधार सब पदार्थ मिलते थे।

वेदों का प्रादुर्भाव ऋग, यजुः और अथर्व वेद अन्तर गत पुरुष सूक्त के अनुसार मानवीय सृष्टि के आरम्भ में ही हुआ था। वह कहां पर हुआ था इसका वर्णन नारायण उपनिषद् में इस प्रकार है:—

उत्तमे शिखरे जाते भूम्या पर्वतमूर्धनि ।
ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम् ॥

स्तुता मया वरदा माता प्रचोदयन्तीं पवने द्विजाता ।
आयुः पृथिव्यां द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा प्रयातु ब्रह्मलोकम् ॥
(नारायणोपनिषद् । २६)

अर्थात्—पर्वत मूर्धा—हिमालय की ऊंची शिखर पर ब्राह्मणों—ऋषियों द्वारा आविर्भूत हुई, वेद माता देवि ! प्राणी मात्र के सुख के लिए संसार में फैलें ।

यह तो हैं उपनिषद् के ऊपर के दो पदों का अभिप्राय । नीचे के दो पद अथर्ववेद के निम्न मंत्र का ही पाठ भेद है :—

स्तुता मया वरदा वेद माता प्रचोदयन्ता पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं
मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥

अथ० १९।७१।१

अर्थात्—द्विजों (दूसरे जन्म में जो उसे पढ़ते हैं) को पवित्र करने और उत्तम पदार्थ देने वाली वेद माता का मैंने उपदेश कर दिया । आप आयु, प्राण सन्तान, पशु, कीर्ति धन, ब्रह्मतेज, मुझे देकर—मेरे अर्पण—(लोक उपकार अर्थ) करके ब्रह्मलोक—मुक्ति—को प्राप्त करो ।

उपनिषद् के उक्त इतिहासिक वर्णन से विदित है कि वेदों का प्रादुर्भाव ऋषियों द्वारा पर्वत (हिमालय की ऊची शिखर पर ही हुआ था । इससे यह भी सिद्ध हुआ कि वह ऋषि भी वहीं पर उत्पन्न हुए जिनके द्वारा वेदों का प्रादुर्भाव हुआ । इसके साथ

यह मानना भी अनिवार्य है यह मनुष्य भी वहीं पर उत्पन्न हुए जिनके लिए वेदों का आविर्भाव हुआ। अतः इस इतिहासिक वर्णन से भी यह सिद्ध है कि आदि मानवी सृष्टि हिमालय पर्वत पर ही हुई ।

अन्त में अथर्व वेद काण्ड १२ सूक्त १ से (जिसका देवता भी 'भूमी' है) कुछ ऐसे प्रमाण उद्धृत करता हूँ जो कि विवादास्पद विषय के पूर्णतया निर्णायक हैं, और जिनसे पश्चिमी इतिहासिकों की यह कल्पना निर्मूल और निराधार सिद्ध होती है कि आर्य लोग भारतवर्ष मे बाहर से आए हैं।

(१) यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सानो भूमि पूर्वपेये दधातु ॥ ३
यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु । ४
(अथर्व का० १२ सू० १ पृथिवी सूक्त)

अर्थात्—जिस भूमि मे (प्राणात्) सजीव (एजत जन्वति) प्राणी-मनुष्य, पशु पक्षी आदि—चलते फिरते हैं, जिस में (कृष्टयः) कृषि आदि सब प्रकार के लोक उपयोगी व्यवहारिक काम करने वाले मनुष्य—ब्राह्मण (अध्यापक उपदेशक) क्षत्रिय (शूरवीर प्रबन्धकर्त्ता) वैश्य (व्यापारी), शूद्र और निषाद (शिल्पकार और दूसरे श्रमजीवी) (संबभूवुः) उत्पन्न हुए हैं, (मानो भूमि दधातु) वह हमारी भूमि हमको समस्त भोग और ऐश्वर्य प्रदान करे। १।

मैंने यहाँ पर कृष्टयः शब्द की व्याख्या में जो पाँच प्रकार के कार्यकर्ताओं का उल्लेख किया है उसमें सन्देह नहीं हो सकता क्योंकि एक तो 'कृष्टयः' बहुवचन है और दूसरा मन्त्र ४२ में आये हुये 'पञ्चकृष्टयः' शब्द से भी इसकी पुष्टि होती है और कृष्टयः शब्द के अर्थ 'काम करने वाले मनुष्य' की सिद्धि निघण्टु तथा 'वैदिक आर्य कोष' से भी होती है :—

(क) कृष्टयः मनुष्यनाम् । निघ० २३ ॥

(ख) कृषन्ति विलिखन्ति स्वानि कर्माणि ये ते मनुष्याः ।

वैदिक आर्य कोष ॥

(२) त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः तवेमे पृथिवी पंच मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्यः उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥ अ० १२ । १ । १५ ॥

अर्थात्—पंच मानव कहते हैं 'हे मातृभूमि, (मर्त्याः) मनुष्य (त्वज्जाताः त्वयि चरन्ति) तुझमें ही उत्पन्न हुए हैं और तुझमें ही चलते-फिरते रहते हैं (द्विपदः चतुष्पदः) मनुष्य और पशु पक्षी आदियों का (त्वं बिभर्षि) तू ही पालन पोषण करती है। जीवन का हेतु भूत सूर्य भी तुझमें अपनी किरणों का विस्तार करता है। (इमे) यह हम तुझ से उत्पन्न हुए (पंच मानवाः) पांच प्रकार के काम करने वाले मनुष्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाध) तेरी सेवा करने वाले तेरे सेवक हैं।

मैंने मन्त्र से आये हुये 'पंचमानव' शब्द के अर्थ—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और निषाध किये हैं। उसकी पुष्टि के लिये स्वर्गीय महात्मा नारायण स्वामी जी की 'मिलाप' नाम्नी लघु पुस्तक से प्रमाण उद्धृत किया जाता है।

"पं० दुर्गाचार्य, निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार "पंचजना" (जो पंचमानव का पर्यायवाची है) के अर्थ चारों वर्ण और पञ्चम निषाध करते हैं। ···· ·· ऋग्वेद में १ सू० ७ मन्त्र ६ का अर्थ करते हुए सायणाचार्यजी ने भी पंच क्षितीनाम्' के अर्थ, जो पंचजना (और पञ्चमानवा) का पर्यायवाचक ही है; चारों वर्ण और पंचम निषाध किये हैं। ··· 'यजुर्वेद में भी पञ्चजना शब्द आया है, महीधर और उवट ने भी इसका अर्थ चारों वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—और पाँचवाँ निषाध किया है।····"

पृथिवी सूक्त के मंत्र ३, ४ में स्पष्ट वर्णन है कि कृष्टयः—मानव जाति के कार्य मूलक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाध पाँचों भाग—भारत भूमि में ही उत्पन्न हुए हैं तथा मन्त्र १५ में आये हुए वाक्य "त्वज्जाता त्वयि चरन्ति" और "पञ्चमानव" तो इतने स्पष्ट हैं कि जिनसे न केवल पश्चिमी ऐतिहासिकों की फैलाई हुई इस भ्रान्ति का ही मूलोच्छेद हो जाता है—कि आर्य लोग भारत में मध्य एशिया से आये हैं और अछूत कहे जाने वाले भारत के आदिनिवासी हैं—बल्कि उनसे इस सचाई का भी पूर्णतया मण्डन होता है कि यहीं पर पहले मानव जाति की उत्पत्ति हुई। मन्त्रों के शब्द इतने साफ

हैं कि जिसमें किसी ननुनच की गुंजाइश ही नहीं रहती। क्योंकि पञ्चमानव स्वयं कह रहे हैं कि हम तुझमें ही उत्पन्न हुए हैं, तुझमें ही रहते हैं, तुझसे ही हमारा भरण-पोषण होता है। भारतवर्ष के पञ्चमानवों की मातृभूमि होने के प्रमाण के लिए सूक्त के अत्यन्त प्रेम से भरे हुए १०वें और १२वें मन्त्र के निम्न वाक्य ध्यान देने योग्य हैं :—

"...मानो भूमिर्वि सृजता माता पुत्राय मे पयः।" १०

अर्थः (सा न. माता भूमिः) वह हमारी मातृभूमि (पुत्राय पय) जैसे माता पुत्रों को दूध देती है (पुत्राय मे) हम सब पुत्रों को (विसृजतां) अपने शरीर से उत्पन्न होने वाले दूध रूप अन्न फल आदि जीवन आधार पदार्थों को प्रदान करे।

(अ० १२ । १ । १०)

" माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्या ॥ १२ "

अर्थ (भूमि) हे मातृभूमि तुम हमारी (माता) माता हो— निर्माण करने वाली—(अहम्) हम तुझ (पृथिव्याः पुत्राः) पृथिवी के पुत्र हैं। (अथर्व० १२ । १ १२)

इसी प्रकार मन्त्र १८ में लिखा है कि "हममें कोई भी आपस में वैरभाव (द्वेष) न करे" और मन्त्र ४२ में आया है कि हम "पञ्चकृष्टयः" पाँचों प्रकार के मानव—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद—तुझमें ही रहते हैं।

पूर्वोक्त प्रमाणों से विदित है कि भारत भूमि ही पञ्च मानवों अथवा सब आर्यों की मातृभूमि है उनमें से कोई बाहर से नहीं आया अपितु सब भारत भूमि के ही आदि निवासी हैं। उनमें कोई विजेता और कोई विजित भी नहीं हैं। और न ही उनमें कोई छूत और अछूत है।

यहाँ पर यह शङ्का की जा सकती है कि पश्चिमी ऐतिहासिक, वेद निर्माण का समय अधिक से अधिक चार हजार वर्ष और वेदों में से भी ऋग्वेद को सबसे पुराना और अथर्ववेद को सबसे पीछे बना हुआ मानते हैं। श्री महोदय बाल गङ्गाधर जी तिलक ने भी वेदों का निर्माण काल १० हजार वर्ष तक बतलाया है; इसलिए जिस पृथिवी सूक्त के आधार पर "पांच-हज्जन" अथवा 'पञ्चमानव" की उत्पत्ति भारत भूमि में ही सिद्ध की गई है, वह अथर्ववेद का है, और अथर्ववेद सब वेदों से पीछे बना है, इसलिए उसका प्रमाण अन्तिम निर्णायक नहीं हो सकता।

यह शङ्का निर्मूल है, क्योंकि ऋग्वेद १०।९०।९ में चारों वेदों का नाम आया है। और ऋग्वेद ८।६०।६ में भी "एकया" "द्वितीयया" "त्रिसृभिः" और "चतसृभिः" शब्दों में चारों वेदों का वर्णन है। श्री सायणाचार्य जी ने भी इनके अर्थ ऋक्, यजु, साम तथा अथर्ववेद के किए हैं। ऋग्वेद १०।८२।११ में भी ऋक् और साम के नाम विद्यमान हैं। इसी प्रकार दूसरे वेदों में भी चारों वेदों के नाम आये हुये हैं।

अत: यह कथन बिलकुल निरर्थक है कि अथर्ववेद दूसरे वेदो से पीछे बना है। यदि अथर्ववेद पीछे बना होता तो उसका नाम ऋक् और यजुः मे न होता।

वस्तुत: ऋग्वेद आदि चारों वेदों का सृष्टि के आरम्भ मे ही ऋषियों द्वारा प्रादुर्भाव हुआ है जैसा ऋग्वेद के निम्न मन्त्रों से विदित है :—

ऋतं च सत्य चाभिद्धात्तपसोऽध्यजायत। इत्यादि ३
ऋग्वेद म १० सूक्त १९० मन्त्र १, २ और ३ ॥

अर्थात्—(धाता) सब जगत् को धारण व पोषण करने वाले (वशी) सबको वश मे रखने वाले परमेश्वर ने अपनी अनन्त सामर्थ्य से (यथा पूर्वमकल्पयत्) जिस प्रकार पहले कल्पों मे सूर्य चन्द्र और पृथिवी आदि की रचना की थी, अब भी की है। उसी अनन्त ज्ञानमय परमात्मा ने (ऋत) सब मौलिक विद्याओं के अधिकरण वेद (शब्दार्थ सम्बन्ध रूपी ज्ञान) तथा (सत्य) त्रिगुणात्मक अव्यक्त प्रकृति को भी पूर्व कल्प के कार्यरूप जगत की भाँति उत्पन्न किया।

(ऋषि दयानन्द)

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

ऋ० १०।९०।९॥

अर्थात्—उस परम पूज्य, सबके ग्रहण करने योग्य परमेश्वर

से ही ऋक्, साम, अथर्व और यजुर्वेद उत्पन्न हुए।

(ऋषि दयानन्द)

ऊपर उद्धृत किए गए ऋग्वेद के पहले मन्त्रों में सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन करते हुए बतलाया गया है जिस प्रकार परमात्मा ने सूर्य चन्द्र और पृथ्वी आदि को पूर्व कल्प में उत्पन्न किया था उसी प्रकार परमात्मा ने वेद का भी प्रादुर्भाव किया। दूसरा मन्त्र (१०।९०।९०) पुरुष सूक्त का है जो कि ऋक् यजु और अथर्व तीनों वेदों में विद्यमान है। इस सूक्त में पुरुष अर्थात् पूर्ण परमात्मा से सृष्टि के आदि में सूर्य पृथ्वी तथा मनुष्य पशु आदि जड़ चेतन जगत् की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है उसी प्रकार ऋग्वेद आदि चारों वेदों के प्रगट करने का भी वर्णन है। बल्कि ऋ० १०।९०।७ में उन देव्य ऋषियों की उत्पत्ति का भी वर्णन है जिनके द्वारा वेदों का प्रादुर्भाव हुआ जिससे स्पष्ट है कि वेद के अनुसार ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में ही वेदों को प्रकाशित किया।

जबकि वेद ने स्वयं बतला दिया है कि वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आरम्भ में ही हुआ है तो फिर उनमें से कोई अधिक पुराना और कोई कम पुराना नहीं हो सकता। इसलिये वेदों के निर्माणकाल का, इसके विरुद्ध की गई कल्पना सत्य नहीं हो सकती चाहे वह पाश्चात्य ऐतिहासिकों की ओर से हो अथवा लोकमान्य तिलक की ओर से।

यदि हम थोड़ी देर के लिये ऐतिहासिकों की इस निराधार

कल्पना को भी सत्य मान लें कि अथर्व वेद दूसरे वेदों से पीछे बना है तो भी विकासवादियों (ऐतिहासिक प्रायः विकासवादी हैं) के मत अनुसार अथर्व वेद की प्रामाणिकता कम नही होती क्योंकि यह ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक विकसित काल मे बना है।

यद्यपि हमने ऋग्वेद—जिसको यूरोपियन और उनके भारतीय अनुचर ऐतिहासिक भी संसार के पुस्तकालय मे सबसे पुराना और प्राचीन इतिहास काल का सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं;—के मंत्रों से ही ऊपर यह सिद्ध कर दिया है कि चारों वेदों का मानवीय सृष्टि के आरम्भ में ही प्रादुर्भाव हुआ है; इसलिये युरोपियन ऐतिहासिकों (जो प्रत्येक वस्तु की आयु को बाईबिल के पैमाने से नापते हैं) और महोदय तिलक जी का (जिन्होंने ऋग्वेद के ज्योतिष का वर्णन करने वाले मंत्रों से वेद का निर्माण काल नियत किया है) बतलाया हुआ वेदों का निर्माण काल असत्य सिद्ध हो जाता है; तथापि पाठकों की जानकारी के लिये उनके बताये हुये वेदों के निर्माण काल की असत्यता का वर्णन किया जाता है। इस सम्बन्ध मे मैं अपनी ओर से कुछ न लिख कर दूसरे पंडितो की सम्मतियां नीचे उद्धृत करता हूँ।

श्री बाबू सम्पूर्णानन्द जी (मंत्री संयुक्तप्रांत) अपनी पुस्तक 'आर्यो का आदि देश' के पृष्ठ ३१, ३२ पर लिखते हैं :—

'वेद मंत्रो का समय क्या है ? इस विषय में भी बहुत मतभेद रहा है। युरोपियन विद्वान तो आज से प्राय. २५००—४०००

(Orion) पुस्तक मे ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८६ के आधार पर यह कल्पना की है कि वेदों का उत्पत्ति काल ई० सन् से चार सहस्र पूर्व का है। उनका कहना है कि उक्त सूक्त में मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त सम्पात का वर्णन है। उक्त सम्पात ई० सन् से चार सहस्र वर्ष पूर्व था। उसी समय मे ऋचाओं की रचना हुई...।" (पृष्ठ ८)

सहस्र वर्ष पूर्व ही वेदों की रचना हुई जबकि वे यह भी कहते हैं और मानते हैं कि वसन्तसम्पात चलता है, बारी से एक-एक नक्षत्र पर आता है। और सम्पातप्रदक्षिणा (पूरा सम्पात चलन चक्र) २५६२० वर्ष अर्थात् लगभग २६००० वर्ष में होती है। तब ई० सन् से चार सहस्र पूर्व ही क्यों ? उससे पहिली सम्पात-प्रदक्षिणा में जब मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्तसम्पात था जो कि ई० सन् से लगभग ३०००० वर्ष पूर्व बैठता है। अथवा उससे भी पहिली सम्पात प्रदक्षिणा में जो ई० सन् से ५६००० वर्ष पूर्व किंवा उससे भी पहिली सम्पात प्रदक्षिणा में लगभग ८२००० वर्ष पूर्व मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त सम्पात था। एवं जहाँ तक पूर्व जा सकते हों प्राचीन से प्राचीन अतिप्राचीन सम्पात प्रदक्षिणा में जो मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त सम्पात था उसे वेदों का रचना काल माना जावे। न माना जावे इसमें कोई हेतु न होने से ई० सन् से चार हजार वर्ष पूर्व वाले मृगशीर्ष नक्षत्रस्थ वसन्तसम्पात को ही वेदों का रचना काल बतलाना हेत्वाभास मात्र है" (पृष्ठ १३)

२—"वेदों के रचना काल में मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त सम्पात था इस विषय में बाल गंगाधर तिलक ने भगवद्गीता का श्लोक साक्षी रूप में दिया है "मासानां मृगशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः" (भगवद्गीता १०।१५) कृष्णजी कहते हैं कि—मैं मासों में मृगशीर्ष हूँ और ऋतुओं में वसन्त इस वचन से तिलक जी महाराज यह सिद्ध करना चाहते हैं कि मृगशीर्ष

वर्ष से पीछे जाने को तैयार नहीं थे। अब भी उनमें से कई इसी के लगभग या कुछ थोड़ा सा और पीछे जाते हैं। बहुत पहिले तो एक कठिनाई यह थी कि बाईबिल के अनुसार सृष्टि को कोई ५८०० वर्ष हुये फिर तो मनुष्य के विकास का सारा इतिहास इसी काल के भीतर घटाना था। अब यह आफत तो टल गई। भूगर्भवेत्ता करोड़ों वर्ष की बात करते हैं। " " " लोकमान्य तिलक ने दिखलाया है कि वेदों के कुछ मंत्रों में ऐसे संकेत हैं जिनसे वह लगभग १०००० वर्ष पुराने प्रतीत होते हैं। " " " " ऋग्वेद दशम मण्डल के ८६वें सूक्त को वृषाकपि सूक्त कहते हैं। कुछ लोग इसको १८००० वर्ष पुराना मानते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद दशम मण्डल के ४०वें सूक्त का १३वां मन्त्र १७००० वर्ष पुराना माना जाता है इन मंत्रों का पुरानापन इन में दिये हुये ज्योतिष संकेतों से निश्चित किया जाता है। " " " (पृष्ठ ३३)।"

इसी पुस्तक के पृष्ठ २२२ पर 'वेदों का निर्माण काल' शीर्षक देकर लिखते हैं :—

"मैं पहले लिख चुका हूँ कि आस्तिक हिन्दू वेदों को अपौरुषेय अतएव नित्य मानता है। उसके लिये वेदों के निर्माण काल का प्रश्न निरर्थक है। तो इस दृष्टि से वेद निर्माण का अर्थ हुआ वेद मंत्रों का अवतरित होना। दूसरे लोग, जो वेद को अन्य पुस्तकों की भान्ति मनुष्य कृत मानते हैं, निर्माण का सीधा

अथ मंत्रो की रचना करते हैं। मैंने दिखलाया है कि कुछ वेद मंत्र १५००० वर्ष से भी पहले के प्रतीत होते हैं। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है मंत्रो का आदि काल इससे बहुत पहले जाता है। श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने 'वेद काल निर्णय' नाम का ग्रन्थ लिखा है जिसमे एतत्सम्बन्धी ज्योतिष प्रमाणों का अनुशीलन करके यह कहा गया है कि वेद आज से ३,००,००० वर्ष पुराना है।" अन्त में पृष्ठ ७३४ पर लिखते हैं "इन सारी बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आज से २५००० वर्ष से भी पूर्व आर्य लोग सप्त सिन्धु मे बसे हुए थे तथा ऋग्वेद में उस समय की स्मृति और झलक है। सब के सब मंत्र उसी जमाने की चर्चा नहीं करते, पर ऋग्वेद काल तभी से आरम्भ हुआ और ऋग्वेदीय आर्य संस्कृति का विकास सप्त सिंधु मे तब से ही शुरू हुआ।"

श्रीमान् पण्डित प्रियरत्न जी (वर्तमान नाम श्रीयुत स्वामी ब्रह्ममुनी जी) अपनी पुस्तक "वैदिक ज्योतिष शास्त्र" के पृष्ठ १८ पर लिखते हैं —

"श्रीयुत लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने अपनी 'ओरायन'

यदि निर्माण का अर्थ रचना करें तो वेद श्रुति न रह कर स्मृति हो जाते हैं, उनके स्मृति होने का वेद आदि शास्त्रों में कहीं प्रमाण नहीं मिलता वस्तुत वेद मंत्र श्रुति ही हैं स्मृति नहीं। क्योंकि देव ऋषियों- अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा ने ईश्वर से वेद मंत्रों को हृदय से सुना और श्रुत ऋषियों ने वेद मंत्रों को देव ऋषियों से सुना।

—लेखक

(Orion) पुस्तक में ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८६ के आधार पर यह कल्पना की है कि वेदों का उत्पत्ति काल ई० सन् से चार सहस्र पूर्व का है। उनका कहना है कि उक्त सूक्त में मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त सम्पात का वर्णन है। उक्त सम्पात ई० सन् से चार सहस्र वर्ष पूर्व था। उसी समय में ऋचाओं की रचना हुई ..।" (पृष्ठ ८)

'सूक्त में मृगशीर्ष नक्षत्र तो क्या 'मृगशीर्ष' शब्द भी नहीं है केवल 'मृग' शब्द अवश्य आया है परन्तु सूक्त भर में कहीं भी इसका विशेषण 'नक्षत्र' शब्द या नक्षत्र का पर्याय अथवा स्वतन्त्र भी नहीं मिलता। किन्तु मृग शब्द भी वृषाकपि के लिये आया है "वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः" (मन्त्र ३) वृषाकपि शब्द सूक्त में ११ बार आया है और मृग शब्द केवल दो बार ही। यह भी स्वतन्त्रव्यक्ति वाचक नहीं किन्तु वृषाकपि का योगिक विशेषण रूप में। ऋग्वेदीय सर्व सर्वानुक्रमणी भी इस बात में साक्षी है। "नि हि र्व्यधिकेन्द्रो वृषाकपिरिन्द्राणीन्द्रश्च समूदिरे" (ऋग्वेदीया सर्वा०) अर्थात् सूक्त में वृषाकपि; इन्द्र और इन्द्राणी का सम्वाद है इसलिये सूक्त में मृगशीर्ष नक्षत्र का वर्णन नहीं है। ...... (पृष्ठ १५)

पृष्ठ १२ पर लिखते हैं :--

१--"हम थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं कि उक्त सूक्त में श्री बालगंगाधर तिलक का अभिमत नक्षत्र पर वसन्तसम्पात का वर्णन है। तब यह कैसे मान लिया जावे कि ई० सन् से चार

सहस्र वर्ष पूर्व ही वेदों की रचना हुई जबकि वे यह भी कहते हैं और मानते हैं कि वसन्तसम्पात चलता है, बारी से एक-एक नक्षत्र पर आता है। और सम्पातप्रदक्षिणा (पूरा सम्पात चलन चक्र) २५६२० वर्ष अर्थात् लगभग २६००० वर्ष में होती है। तब ई० सन् से चार सहस्र पूर्व ही क्यों ? उससे पहिली सम्पात प्रदक्षिणा में जब मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्तसम्पात था जो कि ई० सन् से लगभग ३०००० वर्ष पूर्व बैठता है। अथवा उससे भी पहिली सम्पात प्रदक्षिणा में जो ई० सन् से ५६००० वर्ष पूर्व थिा उससे भी पहिली सम्पात प्रदक्षिणा में लगभग ८२००० वर्ष पूर्व मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त सम्पात था। एवं जहाँ तक पूर्व जा सकते हों प्राचीन से प्राचीन अतिप्राचीन सम्पात प्रदक्षिणा में जो मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त सम्पात था उसे वेदों का रचना काल माना जावे। न माना जावे इसमें कोई हेतु न होने से ई० सन् से चार हजार वर्ष पूर्व वाले मृगशीर्ष नक्षत्रस्थ वसन्तसम्पात को ही वेदो का रचना काल बतलाना हेत्वाभास मात्र है" (पृष्ठ १३)

२—"वेदों के रचना काल मे मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त सम्पात था इस विषय मे बाल गंगाधर तिलक ने भगवद्गीता का श्लोक साक्षी रूप मे दिया है "मासाना मृगशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकर" (भगवद्गीता १०।१५) कृष्णजी कहते हैं कि—मैं मासों मे मृगशीर्ष हूँ और ऋतुओं मे वसन्त इस वचन से तिलक जी महाराज यह सिद्ध करना चाहते हैं कि मृगशीर्ष

नक्षत्र पर वसन्त सम्पात था तभी तो कृष्ण जी ने ऐसा कहा। अस्तु। हमने बिना किसी ननुनच के मान लिया कि कृष्णजी के समय मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त सम्पात था परन्तु इससे यह कहाँ सिद्ध हुआ कि वेदों का रचना काल मृगशीर्ष नक्षत्र पर आया उक्त वसन्त सम्पात है।[१] कारण कि कृष्ण जी के समय मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त सम्पात था इसका अर्थ तो यही है कि महाभारत के समय मृगशीर्ष नक्षत्र पर वसन्त सम्पात था। वेद तो महाभारत से प्राचीन है। महाभारत में वेदों का वर्णन स्थान २ में आता है। अपितु महाभारत से प्राचीन वाल्मीकि रामायण भी है स्वयं महाभारत में कहा है —

शृणु राजन् यथा वृत्तमितिहास पुरातनम्।
समार्येण यथा प्राप्तं दुःखं रामेण भारत॥

महाभारत वनपर्व २७३।६।

अर्थात् —हे राजन्! भार्या सहित राम ने जैसा २ दुःख पाया इस पुरातन इतिहास को यथावत सुन। इस प्रकार

---

१ श्रीयुत लोकमान्य तिलक जी जो गीता से महाभारत के समय वेदों का रचना काल सिद्ध करने का यत्न किया है वह गीता से भी विरुद्ध है क्योंकि स्वयं कृष्ण जी ने गीता में वेदों को ईश्वर से उत्पन्न हुआ माना है यथा —

"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

अर्थात् कर्म वेदों से उत्पन्न होते हैं। और वेद नाशरहित (अक्षर) परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं।

रामायण की प्राचीनता को महाभारत स्वीकार करता है। पुनः वाल्मीकिय रामायण में भी वेदों की चर्चा बहुधा आती है। राम वेदों का विद्वान् था, इत्यादि। तब वेदों की सत्ता वाल्मीकीय रामायण से भी पुरातन होने से महाभारतीय मृगशीर्षनक्षत्रस्थ वसन्तसम्पात वेदों के रचना काल का साधक एवं साक्षी न रहा ... ...।" (पृष्ठ १४, १५) (इससे अधिक देखना हो तो पाठक मूल पुस्तक पढ़ें।

पीछे ऋग्वेद के मंत्रों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि वेदों का प्रादुर्भाव मानवीय सृष्टि के आरम्भ में हुआ। उन वेदों में पाँचों प्रकार के कार्य करने वालों के नाम आये हैं यथा—'पंचजनामतहोत्रं जुषध्वम्" ऋ० १०।५३ ४॥ अर्थात् - पाँचों प्रकार के कार्यकर्त्ता, ब्राह्मण—अध्यापक, उपदेशक; क्षत्रिय – रक्षक, शूरवीर; वैश्य व्यापारी; शूद्र—शिल्पकार कारीगर तथा निषाध-श्रमजीवी मेरे यज्ञ को करें। इसी प्रकार ऋग्वेद १०।६०।१२ में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम आए हैं। जिससे निश्चित है कि वेद की इस आज्ञा के अनुसार मानवीय सृष्टि के आरम्भ में ही मानव जाति के कार्य मूलक चार विभाग किये गये थे। इसलिए प्रो० वेंकलेयर आदि पश्चिमी ऐतिहासिकों का यह कथन असत्य और निराधार है कि आर्य लोग ईसा से १४०० वर्ष पूर्व भारत में आये और यहाँ के आदि निवासियों को जीत कर उन्हें दास और अछूत बना दिया।

इतना ही नहीं कि वैदिक काल में ही वर्णों में वंशज भेद

नहीं था वल्कि इसके पश्चात पौराणिक काल तक भी ब्राह्मण क्षत्रिय आदि आर्यों की सन्तान चारों वर्णों की होती रही है। जैसा निम्नलिखित प्रमाणों से विदित है:—

पुत्रो गृत्समदस्य च शुनको यस्य शौनकः ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च ॥ एतस्य वंशे संभूता विचित्राः कर्मभिर्द्विज ॥

(वायु पुराण)

अर्थात्—गृत्समद के पुत्र शुनक और उसके पुत्र शौनक के वंश मे कर्मो के भेद से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों (वर्ण) हुए।

यही वात विष्णु पुराण में इस प्रकार लिखी है: —

गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्य प्रवर्तयिताऽभूत् ।

अर्थात्—गृत्समद का (पौत्र) शौनक चारों वर्णो का प्रवर्तक हुआ।

हरिवंश पुराण के अध्याय २६ मे भी लिखा है:—

पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च ॥

अर्थात्—गृत्समद के पुत्र शुनक और उनके पुत्र शौनक के (वंश में) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र (पुत्र) हुए। तथा हरिवंश पुराण अ० ३२ :—

एते ह्यांगिरस पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या शूद्राश्च भरतर्षभ ॥

अर्थात्—भार्गव वंश में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र (चारों वर्णों) के पुत्र हुए।

उक्त ऐतिहासिक प्रमाणों से यह बात स्पष्ट है कि एक ही पिता के पुत्र, सगे भाई, चारों वर्णों वाले होते रहे हैं। इनका समर्थन नीचे लिखे चारों वर्णों के गोत्रों के एक समान होने से भी होता है जो कि इस समय हिसार और रोहतक के जिलों में विद्यमान है। यह गोत्र मैंने स्वयं दरयाफ़त कराये हैं:—

नाम गोत्र या जात।		उस गोत्र में जो जो लोग हैं:—
खण्डेलवाल	—	चमार, ब्राह्मण, वैश्य, मेहतर, व इस जात के वैश्य और चमार जयपुर और देहली में भी हैं।
भंभोरिया	—	गौड़ ब्राह्मण तथा चमार।
वसिष्ठ	—	ब्राह्मण (जम्मू रियासत मे चमार) वसिष्ठ मेघ।
भंभोटिया	—	गौड़ ब्राह्मण, भंगी तथा चमार।
बाबिलिया	—	ब्राह्मण, चमार।
चोपड़ा	—	क्षत्रिय, राजपूत तथा चमार।
गोयला	—	वैश्य तथा चमार
खत्री	—	क्षत्रिय और चमार
सेंगल	—	वैश्य-गूजर-जाट, मेव तथा सुनार
ब्राह्मणिया	—	ब्राह्मण तथा चमार।
मायल	—	गूजर तथा चमार

चाँदीला	—	गूजर, चमार तथा सुनार ।
चोयत	—	जाट, धाणक, भंगी, चमार तथा हेड़ी ।
निरवान	—	जाट तथा चमार ।
मेहता	—	ब्राह्मण, जाट तथा चमार
वाहज	—	सुनार तथा चमार ।
सिंहमार	—	जाट, कुम्हार तथा चमार ।
ढैया गढ़वाल	—	जाट तथा चमार ।
लाम्बा	—	क्षत्रिय, जाट तथा चमार ।
तुणीवाल	—	अहीर, चमार ।
आफरियाँ	—	अहीर तथा चमार ।
गौड़	—	ब्राह्मण, राजपूत तथा चमार ।
गैलोत, राठौर, भट्टी, सोलंखी, तंवर, चौहान, पनवार, हाडा, खेची, चायल, संखला इत्यादि इत्यादि ... ।		राजपूत तथा चमार

जिन चमार भंगी आदि जातियों के गोत्र दिए गए हैं उनके आर्यों में से होने का प्रमाण यह भी है कि वे सब हिन्दू कहलाती हैं और उनके सब रीति रिवाज हिन्दुओं के ही समान हैं। यह हिन्दू पर्व मानती और तीर्थ यात्रा भी करती हैं।

पाठक महोदय, यदि ऊपर दिए गए जाति अथवा गोत्रों का विवरण ध्यानपूर्वक देखेंगे तो उन्हें ज्ञात होगा कि कुम्हारों और

चमारों भंगियों आदि का जातिएँ तो वही हैं जो दूसरे हिन्दुओं की हैं और बर्तन तथा चमड़े का काम करने से उन्हें कुम्हार या चमार कहते हैं—अर्थात्—कुम्हार अथवा चमार उनकी जाति नहीं अपितु उनके पेशे (धर्ये) का नाम है। वैसे ही जैसे डाक्टरों, वकीलों, और इंजीनियरों आदि का डाक्टरी, वकालत और मकान बनवाना पेशा है। जातियाँ उनकी भिन्न-भिन्न हैं।

उक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट विदित है कि लुहार, चमार कुम्हार आदि शूद्र, जिन्हें पश्चिमी ऐतिहासिकों और उनके अनुयायियों ने भारत का आदि निवासी• तथा आर्यों को बाहर से आकर उन्हें शूद्र, दास और अछूत बनाने का अपराधी ठहराया है; वे आर्यों के ही वंशज हैं।

अब मैं वह प्रमाण उद्धृत करता हूँ जिनसे यह सिद्ध होगा कि पहाड़ी और वनवासी जातियाँ भी आर्यों में से ही हैं।

ताननु व्याजहार अन्तान् वः प्रजा भक्षीष्टेत त एतेंध्रा पुंड्राः शबरा पुलिंदा मूतिबा इति उदंत्या वहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्युना भूयिष्ठाः ॥ ऐतरेय ब्रा० ७ १८॥"

अर्थात् आन्ध्र पौंड्र शवर पुलिन्द मूतिब और दूसरे बहुत से सीमाप्रान्त में रहने वाले लोग विश्वामित्र के कारण दस्यु हो गए थे।

भागवत स्कन्द ६ । १६ श्लोक ३३ मे भी यही वर्णन है।

विष्णु पुराण अंश ४ अध्याय ३ श्लोक २३, २४, २५, २६ मे लिखा है कि त्रिशंकु के वंश में बाहु नाम का राजा हुआ। वह

हैहय ताल जंघ से पराजित होकर अपनी गर्भवती स्त्री के साथ वन में चला गया और वहीं पर और्व ऋषि के आश्रम के पास उसका देहांत हुआ। उसके पश्चात् उसके यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ। ऋषि ने उसका नाम सगर रखा। सगर जब बड़ा हुआ तो उसने *अपनी माता से अपने पिता के परास्त होने और जंगल में आने* का हाल सुनकर शत्रुओं से अपना राज्य वापस लेने और उन्हें मारने की प्रतिज्ञा की। जब उसने बहुत से हैहय ताल जंघ आदिकों को मार दिया तब वह सगर के कुलगुरु वसिष्ठ के पास गए। तब उसने सगर को कहा कि मैंने इन्हें जाति से बाहर करके जीते ही मार दिया है। अब इन्हें मत मारो। तब सगर ने गुरु का वचन मान कर उन्हें जाति से बाहर कर दिया। इसलिए वह सब अपने धर्म तथा ब्राह्मणों के त्याग से म्लेच्छ बन गये।

महाराज सगर ने अपने पुत्र को भी देश से निकाल दिया था; जिसकी सन्तान पर्वत निवासी भील आदि लोग तथा पंजाब के ओड हैं।

शनकैस्तु क्रियालोपादिमः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गताः लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥४३
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवना शकाः।
पारदा पह्लवाश्चीनाः किराता दरदा खशाः ॥४४॥

मनुस्मृति अध्याय १०

ब्राह्मणों के न मिलने से धीरे २ क्षत्रिय जातियां पतित हो

गईं। और पौंड्र, औड्र, द्रविड़ (दक्षिण भारतीय), काम्बोज (कम्बोडियन), यवन (यूनानी), शक (सीस्तानी), पारद (पार्थिव), तुरामानी, पह्लव (ईरानी पह्लवी), चीनी, किरात (नैपाल, ब्रह्मावर्त, भूटान आदि के निवासी), दर्द (दर्दस्तानी, कश्मीरी), खश (आसामी) आदि नामों से प्रसिद्ध हुईं।

यवनाः किराताः गन्धाराश्चीना शवरबर्बराः।
शकास्तुषारा कंकाश्च पह्लवाश्चान्ध्रमद्रकाः।
औड्रा पुलिन्दा रमठा काम्बोजश्चैव सर्वशः।
ब्रह्म क्षत्र प्रसृताश्च वैश्या शूद्राश्च मानवाः॥ १४॥

(म० भा० शा० अध्य० ६५)

अर्थात्—यवन, किरात, गान्धार (कन्धारी), चीन, शवर (भील), बरबर (अलजीरियन, अफ्रीकन), शक (तुषार, मध्य एशिया के देशों के निवासी) कंक, पह्लव, आन्ध्र, मद्रक (मद्रासी), औड्र, पुलिन्द, रमठ और काम्बोज आदि संसार भर की जातियां ब्राह्मण क्षत्रिय आदि चारों वर्णों से ही पैदा हुई हैं।

उक्त प्रमाणों से विदित होता है कि न केवल भारतीय शवर (भील) किरात, खस आदि पहाड़ी और वनवासी जातियां ही क्षत्रियों की सन्तान हैं अपितु, चीन, ईरान, कन्धार, यूनान, कम्बोडिया आदि अन्य देशों के निवासी भी आर्य क्षत्रियों की ही सन्तानें हैं।

शिल्पी पेशे भी अछूत होने के कारण नहीं हैं

वेद में लुहार, बढ़ई आदि कारीगरों की बहुत प्रतिष्ठा की गई है, जैसा कि निम्नलिखित वेद-मंत्र से स्पष्ट है :—

(क) नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमः
नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः

—यजु० अ० १६।२७

अर्थात्—बढ़ई, रथकार, कुम्हार, लुहार आदि कारीगरों का सत्कार करो ।

(ख) मनुस्मृति, अध्याय १० श्लोक १२० में भी लिखा है कि बढ़ई आदि शूद्र कारीगरों से राजा विपत्ति में भी कर न लें क्योंकि यह कार्यरूप ही कर देते हैं । यदि विचार करके भी देखा जाये तो न्याय यही प्रतीत होता है कि इन कारीगरों का मान किया जाए और इनसे कर न लिया जाए। अर्थात् इन पर व्यवसाय कर (Professional Tax) न लगाया जाय ।

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् ।
ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितः ॥

मनु० अ० ५ । १२६ ॥

अर्थात्—कारीगरों का हाथ और दुकान में बेचने को जो कुछ रखा है वह और ब्रह्मचारी की शिक्षा सर्वदा पवित्र है यह शास्त्र की मर्यादा है ।

मनुस्मृति अ० २ श्लोक ७४ में लिखा है कि स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शोच, अच्छे वचन और अनेक प्रकार की शिल्प विद्या सबसे ग्रहण कर लेनी चाहिए।

इस श्लोक मे शिल्पविद्या की गणना स्त्री आदि के समान ही की गई है जिसे कि दुर्भाग्य से इस समय कमीनों का काम समझा जाता है।

लकड़ी, लोहे, मट्टी तथा चमड़े आदि के काम भी पाप कर्म नहीं है कि जिससे इन कामों के करने वाले अपराधी और अछूत समझे जायँ।

(ग) यदि चमड़े का कार्य करने से चमार अछूत हो जाते हैं तो जो लोग चमड़े के बनाये हुए जूते पहनते हैं अथवा आज-कल जो पैदायशी द्विज कहलाने वाले जूते बनवाते और बेचते हैं वह भी अछूत हो जाते।

(घ) जो अछूत ईसाई और मुसलमान बन जाते हैं वे चमड़े आदि के काम भी करते रहते हैं और अभक्ष्य भक्षण भी करते हैं, तब भी वे अछूत नहीं रहते। इससे विदित है कि वे अछूत उसी समय तक हैं जब तक कि वे हिंदू हैं। जब वे हिंदुत्व को तिलाञ्जलि दे देते हैं तब उनका अछूतपन भी जाता रहता है। इसके अतिरिक्त अभक्ष्य भक्षण करने वाले ईसाई मुसलमान और अभक्ष्यभक्षी अनेक हिन्दू जबकि अछूत नहीं हैं तो दलित हिंदू श्रेणिया क्यों अछूत हैं।

लुहार आदि कारीगरों को जो पतित माना जाता है उससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि लुहार आदि के पेशे ने उनको पतित बना दिया। मनुस्मृति अ० १० को विचारपूर्वक अध्ययन करने से मालूम होता है कि जन्म से द्विज स्त्रियों और शूद्रों के दुराचार से उत्पन्न वर्णसंकर सन्तानों को उनके जीवन निर्वाह के लिये राजाज्ञा से इन पेशों में लगाया जाता था। इसलिये उनके संसर्ग से यह पेशे भी बुरे समझे जाने लगे, वास्तव में यह पेशे बुरे नहीं हैं।

छूत अछूत का कारण

पाठक वृन्द! पूर्वोक्त सप्रमाण वर्णन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वैदिक काल में शूद्रों को पतित नहीं अपितु आर्य समझा जाता था और चारों वर्णों के साथ एक सा व्यवहार होता था। परन्तु समय के परिवर्तन से शूद्र भी दस्यु समझे जाने लगे, अथवा दस्युओं को भी शूद्र समझा जाने लगा और अनेक प्रकार के पतित भी माने जाने लगे परन्तु ऐसे दुष्काल में भी शूद्रों और पतितों को अछूत नहीं समझा जाता था, इससे ज्ञात होता है कि वर्तमान भारत में जितनी छूत अछूत है वह सब जन्ममूलक है और यह प्रबल भी है। अर्थात् जो मनुष्य जिस वंश और जिस प्रांत में उत्पन्न हुआ है उस प्रांत के समान वा जिस प्रकार का सामाजिक व्यवहार उसके पूर्वजों से होता था वैसा ही व्यवहार उसके साथ भी होगा

है। यदि उसके पूर्वज किसी प्रकार से अछूत समझे गये थे तो वह भी परिवार सहित अछूत ही समझा जाता है चाहे उसमें वह दोष हो या न हो कि जिससे उसके पूर्वज अछूत समझे गये थे। और चाहे उसकी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अवस्था अपने पूर्वजों से कितनी ही उन्नत क्यों न हो गई हो और वह वर्तमान जन्ममूलक नामधारी द्विजों से भी आचार विचार की दृष्टि से श्रेष्ठ ही क्यों न हो। अतः इससे विदित है कि इस व्यापक छूत अछूत का मूल कारण जन्म-सिद्ध वंशीय वर्ण-व्यवस्था ही है। अर्थात् जैसे जैसे पैदायशी वर्णव्यवस्था के संस्कार प्रबल होते गये वैसे वैसे जन्मसिद्ध श्रेष्ठता तथा पवित्रता का अभिमान भी बढ़ता गया और उसके कारण सारे हिंदुओं में ऊँच नीच शुद्धाशुद्ध और उसके ही कारण छूत अछूत का भयानक रोग भी फैलता चला गया और चारों वर्णों में अनेक कल्पित जातियाँ भी बनती चली गईं जिनके कारण न केवल यह कि दलित हिंदू श्रेणियों को ही अछूत समझा गया बल्कि प्रत्येक वर्ण को द्विज कहलाने वाली भिन्न २ कल्पित जातियों भी न्यून अधिक अंश में एक दूसरे को ऊँच नीच शुद्धाशुद्ध तथा छूताछूत समझने लग गईं इसलिए इनके सामाजिक सम्बन्ध भी टूटते चले गये। परस्पर खान-पान तथा विवाह आदि होने भी बन्द होते गये। फलतः स्वयं अछूत समझी गई श्रेणियां भी आपस में एक दूसरे को ऊँचनीच छूत अछूत समझने लगीं। इससे स्पष्ट है कि छूत अछूत एक भ्रांतात्मक

रोग हैं, जो कि इस समय चारों वर्णों मे ही एक समान फैला हुआ है। जिसका मूल कारण जन्म मूलक श्रेष्ठता पवित्रता और आचार सम्पन्नता का अभिमान ही है। और उक्त कथन की सचाई को जाँचने के लिये प्रत्यक्ष, उदाहरण देखना हो तो वर्तमान भारतीय छूत अछूत की निंदा करने वाली इस समय की गौराग जातियों में भी देख लीजिए। जोकि निश्चत रूप से आर्य वश से हैं और स्वय भी अपने आप को आर्य वश से मानती हैं। अपने वैभव तथा जन्मसिद्ध प्राप्त श्रेष्ठता के मद मे हिंदुस्तानियों, हवशियों, रैड इन्डियनों आदि निर्बल जातियों को जन्म से ही अछूत समझती हैं। और अपनी रियासतों में उन्हें जमीन खरीदने, रहने, होटलों में ठहरने, खाना खाने, गाडियों में एक साथ वैठने तथा खास सडकों पर भी चलने नहीं देतीं। और इस प्रकार के कानूनी वंधन लगाती हैं जिन से उनकी रियासतों मे रगदार जातियों के मानवीय अधिकार कुचले जायें।

वेद का शूद्र मूर्ख नहीं है।

वेद का शूद्र मूर्ख भी नहीं है क्योंकि —

[क] वेद के सव शब्द यौगिक हैं इसलिए वेद में आए हुए शूद्र शब्द का यौगिक अर्थ मूर्ख नहीं हो सक्ता।

[ख] यजुर्वेद अध्याय ३० मंत्र ५ में 'तपसे शूद्र' पद से शिल्पकारी का काम करने वाले लुहार, वढई आदि सव श्रमजीवी शिल्पकारों को शूद्र वतलाया है। जिसका विस्तृत वर्णन पीछे

किया जा चुका है और अथर्ववेद के निम्न मंत्र मे इन शिल्पकारों को विद्वान कहा है :—

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ॥ अथर्व ३।५।६

अर्थात्—जो बुद्धिमान् रथ बनाने वाले और जो विद्वान् लुहार हैं।' इसी प्रकार यजुर्वेद अध्याय ३० के छठे मन्त्र के अन्त में यह पद आया है :—

मेधायै रथकारं धैर्याय तक्षाणम् ॥ यजु०

अर्थात्—बुद्धि के लिए [विमानादि के रचने वाले] रथकार को धैर्य के लिए [महीन काम करने वाले] बढई को उत्पन्न कीजिए—[ऋषि दयानन्द]

इन उद्धरणों से विदित है कि वेद स्वयं तथा उसके भाष्यकार महर्षि स्वामी दयानन्द जी भी श्रमजीवी, शिल्पकार आदि शूद्रों को विद्वान् और बुद्धिमान् मानते हैं। इसलिए वेद के शूद्र को मूर्ख नहीं कह सकते और विद्वान होने से शूद्र द्विजन्मा है।

[ग] कूर्म पुराण के अध्याय १६ में यह ऐतिहासिक वर्णन मिलता है।

वत्सरश्चासित चैव तावुभौ ब्रह्मवादिनो ।
वत्सरान्नैध्रुवो जज्ञे रैभ्यश्च सुमहायश ॥२॥
रैभ्यस्य जज्ञिरे शूद्रा पुत्रा श्रुतिमता वरा ।

अर्थात्—[कश्यप के] वत्सर और असित ब्रह्मवादी पुत्र हुए तथा वत्सर के नैध्रुव और रैभ्य दो पुत्र हुए और रैभ्य के वेद के विद्वानों में श्रेष्ठ पुत्र शूद्र हुए॥ इससे भी स्पष्ट है कि रैभ्य

के पुत्र वेद के विद्वान होने के पश्चात् शूद्र बन क्योंकि उनका कुल तो शूद्र था नहीं। इसलिए यही मानना पडता है कि वेद के विद्वान होने के पश्चात जीविका के लिए श्रमसाध्य कामों को करने पर उनका वर्ण शूद्र हुआ इससे भी यही ज्ञात होता है कि शूद्र मूर्ख नहीं हैं।

[घ] मनु ने भी अ० २ में लिखा है कि अविद्वान् पुरुष भी आचारवान् हो सकता है और आचारवान् अविद्वान, विद्वान आचार हीन से अच्छा है, यथा —

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥

मनु० २।११८।

अर्थात् —जो केवल गायत्री जानने वाला भी जितेन्द्रिय है वह अधिक मान्य है और तीन वेदों का ज्ञाता भी यदि भक्ष्या-भक्ष्य का विचार न रखता हो और सब वस्तुओं का विक्रय करता हो तो वह अजितेन्द्रिय, माननीय नहीं है।

यहां पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शूद्र अथवा कोई और यदि धार्मिक हो और जितेन्द्रिय हो वह अविद्वान होते हुए भी अधार्मिक विद्वान् से अधिक माननीय है।

[ङ] महाभारत वनपर्व अध्याय १८० के श्लोक १८,१९,२० जो पहिले उद्धृत किए जा चुके हैं उनमें भी स्पष्ट लिखा है कि चारों वर्णों का प्राचीन काल में ज्ञान और आचार एक समान था और चारों वर्णों की सन्तानें ब्रह्मचर्य काल में वेदादि शास्त्रों

के अध्ययन के पश्चात् ही अपनी २ रुचि के अनुसार आजीविकार्थ भिन्न २ वर्णों को ग्रहण करती थीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्राचीन काल के शूद्र मूर्ख नहीं अपितु विद्वान होते थे।

[च] महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २६६ श्लोक १२ से १७ तक में वर्णन है कि शृंग ऋषि, कश्यप, वेद, ताण्ड्य, कृप, कक्षीवान्, कमट, यवक्रीत, द्रौण, आयु, मतंग, दत्त, द्रुपद, मात्स्य तथा ऐत्रेय ब्राह्मण के कर्त्ता वेदों के परम विद्वान ऐत्रेय ऋषि और व्यास वशिष्ठ आदि अनेक ऋषि मुनि दासीपुत्र थे और वेदों का अध्ययन करके जगत् के पूज्य बने। जिससे भली भांति विदित है कि प्राचीन काल में शूद्र तो क्या दासीपुत्रों को भी वेद पढ़ने का पूर्ण अधिकार था। परन्तु दुर्भाग्यवश समय के परिवर्तन से जिस समय वेद-विरुद्ध जन्म-मूलक अथवा वंशीय वर्ण व्यवस्था मान ली गई और वेद को त्यागने वाले आचारहीन दस्यु को (जो वास्तव में मूर्ख था) शूद्र मान लिया गया (देखो म० भ० शा० प० अ० १८६ श्लो० ७) उस समय शूद्रों के वेद पढ़ने के अधिकार भी छीन लिए गए और पीछे समय २ पर श्री शंकराचार्य, श्री आचार्य रामानुज, श्री मध्वाचार्य, श्री निम्बार्काचार्य, श्री सायनाचार्य जैसे प्रमुख विद्वान भी वेद अध्ययन का शूद्रों को निषेध करते रहे। इस अवैदिक जन्ममूलक वर्ण व्यवस्था के प्रति पक्षपात का यह दुष्परिणाम हुआ कि, शूद्र शिल्पी श्रेणियां अशिक्षित होगई, इसलिए वर्तमान समय के शूद्रों

को अशिक्षित देख कर यह अनुमान करना भूल है कि वैदिक काल के शूद्र भी मूर्ख थे क्योंकि यह मूर्खता वेद-मूलक नहीं है बल्कि वंशीय-पक्षपात-मूलक और आधुनिक है।

ऋषि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में मूर्ख के लक्षण बतलाने के लिये महाभारत उद्योग पर्व विदुर प्रजागर अध्याय ३२ श्लोक दिया है।

> अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
> अर्थांश्चाऽकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥१॥

इसका अर्थ ऋषि ने यह किया है :—"जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा न सुना, जो अतीव घमण्डी होकर बड़े बड़े मनोरथ करने हारा बिना कर्म किए पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करने वाला हो उसी को बुद्धिमान लोग मूर्ख कहते हैं ॥"

इस कसौटी पर परखने से न केवल यह कि वैदिक शूद्र ही मूर्ख नहीं ठहरते बल्कि यह कि वर्तमान समय के पौराणिक शूद्र भी मूर्ख सिद्ध नहीं होते। क्योंकि वह अपनी वर्णात्मक विद्या (शिल्प तथा कृषि आदि) को जानते और करते हैं और वेद आदि शास्त्रों की कथा और उपदेश भी सुनते रहते हैं। वह घमण्डी नहीं होते और बड़े बड़े मनोरथ भी नहीं बांधते और न ही बिना काम के पदार्थों की प्राप्ति अथवा आजीविका की सिद्धि की इच्छा करते हैं। बल्कि कठिन कामों को करके जीविका उपार्जन करते हैं। उक्त तीनों दोष आजकल के जन्मसिद्ध निरक्षर द्विजों में अधिक पाए जाते हैं। यहां पर यदि यह प्रश्न किया जाए

कि श्लोक में कहा गया है कि जो व्यक्ति कोई शास्त्र न पढ़ा हो वह मूर्ख है। तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि वेदादि शास्त्र के न जानने से केवल इस विषय में आप भले ही उसे मूर्ख कहलें परन्तु यदि वह अस्त्र शस्त्रादि वस्तुओं का बनाना जानता और बनाता है तो वह अवश्य ही विद्वान और शूद्र वर्ण का है क्योंकि शूद्र वर्ण का कारण कला कौशल अथवा अस्त्र-शस्त्रादि वस्तुओं का ज्ञान-पूर्वक बनाना है।

कला कौशल की विद्या भी द्विजन्मा होकर गुरु से ही प्राप्त की जा सकती है। जैसा कि मनु० अध्याय १० में लिखा है :—

सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान्यथाविधि।
प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत्॥ मनु १०।२

अर्थात्— ब्राह्मण सब वर्णों का जीवनोपाय यथा-शास्त्र जाने और उनको बतावे तथा आप भी यथोक्त काम करे।

इससे भी सिद्ध होता है कि शूद्र भी अपने कर्तव्य कर्म को द्विजन्मा होकर ही सीख सकता है। चाहे वह अपने पिता गुरु से सीखे अथवा अन्य गुरु से। यदि ब्राह्मण का बालक अपने पिता से जीविका के उपायों को सीख कर द्विज बन सकता है तो शूद्र का बालक भी अपने पिता से अपनी जीविका सम्बन्धी कामों को सीख कर द्विज बन जाता है। पहिले घर में होने वाले यज्ञोपवीत संस्कार से भी प्रगट है कि बालक पहिले घर में माता पिता आदि गुरु से शिक्षा प्राप्त करता था और फिर गुरुकुल में। शिक्षा द्वारा ही मनुष्य द्विज बनता अर्थात् द्विजन्मा होता है

अतएव शिल्पकार भी द्विज है।

इस लिए मूर्ख को शूद्र अथवा मूर्खता को शूद्रत्व का कारण बतलाना भूल है। क्योंकि कोई भी मनुष्य न तो सब विद्याओं का विद्वान हो सकता है न ही सब वर्णों के कार्य कर सकता है। इसलिए जो व्यक्ति जिस वर्ण की विद्या को जानता है वह उसमें विद्वान और जिस वर्ण की विद्या को नहीं जानता उसमें अविद्वान् या मूर्ख है। यदि शिल्प विद्या के जानने वाले शूद्र शिल्पकार को केवल धर्मशास्त्र न जानने के कारण मूर्ख समझकर उसकी इस मूर्खता को ही शूद्र वर्ण का कारण बतायेंगे, तो अन्य शास्त्र के विद्वान अध्यापक (ब्राह्मण) को भी अस्त्र शस्त्र और कला कौशल आदि के न समझने और न बना सकने के कारण अज्ञानी समझ कर उसकी इस अज्ञानता को ही ब्राह्मण वर्ण का कारण मानना पड़ेगा। परन्तु न तो शिल्प विद्या की अज्ञानता ब्राह्मणत्व अथवा ब्राह्मण वर्ण का कारण है और न ही उपनिषदों और दर्शनों से नावाकिफ़ी शूद्रत्व अथवा शूद्र वर्ण का कारण है क्योंकि मूर्खत्व (अज्ञानता) किसी भी वर्ण और पेशा का कारण नहीं हो सकता। बल्कि अपने २ वर्ण अथवा पेशा की विद्या का होना और उसके अनुसार कार्य करना ही ब्राह्मण और शूद्रादि वर्णों का कारण है। इसलिए मूर्खता को शूद्रता अथवा शूद्र वर्ण का कारण मानना युक्तियुक्त नहीं है।

इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि आनफल श्रमसाध्य काम अथवा मेहनत मजदूरी करने वाले शूद्रों में बहुत से लोग ऐसे

भी हैं जो कि बेचारे न तो कुछ लिखे, पढ़े हैं न ही कोई कारीगरी अथवा शिल्पकारी करना जानते हैं और जीविका के लिए मजदूरी आदि कठिन कामों को करते हैं। ऐसे शूद्रों को मूर्ख अथवा अनाड़ी कह सकते हैं। परन्तु उनकी यह मूर्खता उनके शूद्र वर्ण का कारण नहीं है, बल्कि उनके शूद्र वर्ण होने का कारण अपनी आजीविका के लिए कठिन कामों अथवा मेहनत मजदूरी का करना है। और इस प्रकार के अशिक्षित [मूर्ख] केवल जन्म से मानी जाने वाली शूद्र श्रेणियों में ही नहीं हैं बल्कि नामधारी पैदायशी द्विजों में भी फौजी सिपाही और खेती बाड़ी करने वाले तथा वैश्यों में अधिकतर दुकानदार भी इसी श्रेणी के हैं जो कि निरक्षर अथवा अद्विज और अनाड़ी [मूर्ख] हैं परन्तु उनके निरक्षर होने पर भी जिस प्रकार वर्णात्मक दृष्टि से देश और जाति की रक्षा करने वाले फौजी वीरों तथा व्यापारी दुकानकारों को उनके कार्य की दृष्टि क्षत्रिय और वैश्य ही कहेंगे शूद्र नहीं; इसी प्रकार निरक्षर शूद्रों को भी कठिन काम करने के कारण ही शूद्र कहेंगे न कि निरक्षर होने के कारण। क्योंकि ब्राह्मणों के अतिरिक्त साक्षर होना किसी वर्ण का कारण नहीं है। हाँ साक्षर होना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है चाहे वह किसी भी वर्ण का हो।

मुझे यहां पर यह बतला देना भी आवश्यक प्रतीत होता है शूद्र वर्ण भी आर्यों का ही एक अङ्ग है जैसे कि पीछे अच्छी प्रकार सिद्ध किया गया है इसलिए ऐसे शूद्रों को भी दस्यु नहीं कह सकते। क्योंकि वेद ने दस्यु उसको बतलाया है जो कि

अकर्मा अवती तथा चोर और डाकू हैं। यह दुर्गुण इन अशिक्षित शूद्रों में प्रायः नहीं हैं। यह धर्मपूर्वक तप अर्थात् सख्त मेहनत करके अपनी जीविका कमाते हैं ऐसा करना आर्यत्व है। ऐसे ही अशिक्षित अथवा अनाड़ी शूद्रों को ही महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के ८ वें समुल्लास में तथा व्यवहार भानु में आर्य बतलाया है। जैसा कि पहिले लिख आये हैं।

वेद का शूद्र नीच भी नहीं है

यद्यपि पहिले उद्धृत किए गए वेद मंत्रों की विद्यमानता में वेद के शूद्र को नीच कहना भ्रांति ही नहीं बल्कि अत्याचार भी है क्योंकि उनसे सिद्ध है कि वेद का शूद्र आर्य है और आर्य नीच नहीं हो सकता तथापि वेद में शूद्र के जो पावों से उपमा दी गई है, इसलिए पैरों के नीच अङ्ग समझने वालों ने शूद्र को नीच समझ लिया परंतु न तो पाँव शरीर का नीच अङ्ग है और न ही शूद्र नीच वर्ण। पैर के नीच अङ्ग होने का कोई प्रमाण नहीं है। महापुरुषों के चरण ही पूजे जाते हैं न कि सिर आदि अङ्ग। यदि पैर नीच अङ्ग होते तो कभी पक्की रसोई मानने वाले ब्राह्मण देवता चौके में जाते समय अपने पाँव चौके से बाहिर रख जाते। सब से पहिले चौके मे प्रवेश पैरों का ही होता है तभी चौके में बनने वाली रसोई के बनने मे सफलता प्राप्त होती है। इससे पैरों को निचला अङ्ग तो कह सक्ते हैं परन्तु नीच नहीं कह सक्ते क्योंकि :—

[क] एक तो शिर, पैर आदि शरीर के सब अङ्गों की उत्पत्ति एक ही प्रकार के रज वीर्य रूप उपादान से होती है और एक ही प्रकारके रुधिरसे सब अङ्गों का पालन पोषण होता है,इसलिए शरीर के सब अङ्गों की प्राकृतिक स्थिति भी एक समान ही है। फिर उनमें कोई अग ऊँच और कोई नीच क्योंकर हो सकता है।

[ख] पैरों से लेकर शिर तक शरीर के सारे अङ्गों का नस और नाड़ियों द्वारा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि किसी एक को दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते; बल्कि एक अङ्ग के निर्बल होने से सभी अङ्ग दुखी और व्याकुल हो जाते हैं। पैरों मे काँटा लगने से मस्तिष्क तत्काल उसके निकालने की चिन्ता करता है, आंखें उसमें गड़ जाती हैं, हाथ उसके निकालने का यत्न करते हैं और जब तक कांटा निकल नहीं जाता सारे अङ्ग बेचैन रहते हैं। जिस अभागे मनुष्य की टांगें किसी आघात से कुचली गई हैं, उसके शरीर के ब्राह्मण भाग चक्षुओं से अश्रुधार बह रही है, मुख से हाहाकार निकल रही है, दुख की कोई सीमा नहीं सर्वाङ्गों की समानता का शास्त्रीय प्रमाण यह है :—

ओ३म् भू पुनातु शिरसि। ओ३म् भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओ३म् स्वः पुनातु कण्ठे। ओ३म् महः पुनातु हृदये। ओ३म् जनः पुनातु नाभ्याम्। ओ३म् तपः पुनातु पादयो। ओ३म् सत्य पुनातु पुनः शिरसि। ओ३म् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र।

इस मंत्र से प्रत्येक आर्य संध्या में प्रातः और सायं काल भगवान् से प्रार्थना करता है कि मेरे सिर आंखों, कण्ठ, हृदय और

पैरों आदि को पवित्र करो इसलिए यह कथन भ्रान्त है कि पैर नीच अङ्ग हैं। इसमें सब अंगों के लिए एक सी प्रार्थना है।

(ग) जिस प्रकार शरीर बाहु और उदरादि अंग अत्यन्त उपयोगी हैं। उसी प्रकार जंघा भी अत्यन्त उपयोगी अग है क्योंकि शारीरिक क्रियाओं की सिद्धि तथा व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरे अंगों की भांति पैरों की भी अत्यन्त आवश्यकता है। यदि पैर, जघा चलना फिरना और भ्रमण और व्यायामादि करना छोड़ दें तो मनुष्य के सारे काम बन्द और शिरादि सारे अंग अस्वस्थ हो जायेंगे। यदि जंघा सबल और दृढ़ न हों और बाहुओं का साथ न दें तो बाहु भी आक्रमणकारी शत्रुओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते और न ही, दुष्टों से रक्षा कर सकते हैं। ठीक उसी प्रकार शूद्र भी वेद के अनुसार ईश्वर के विराट् स्वरूप अथवा राष्ट्र के पैर हैं। इसलिए महापुरुषों के पैरों से भी अधिक आदरणीय और पूजनीय हैं क्योंकि यह तो जाति अथवा राष्ट्र का जीवन है। यदि शूद्र अन्न वस्त्रादि जीवनाधार वस्तुओं को उत्पन्न न करें तो ब्राह्मणादि वर्णों का भी जीवन नहीं रह सकता। यदि शूद्र अस्त्र शस्त्र और नौका विमानादि युद्धोपयोगी सामग्री न बनाएं तो क्षत्रिय भी शत्रुओं पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते और न ही दुष्टों को दण्ड दे सकते हैं।

इसके अतिरिक्त शूद्रों के काम भी यज्ञ रूप हैं; क्योंकि उन से भी संसार का उपकार होता है। वैश्य भी शूद्रों की उत्पन्न

की हुई तथा बनाई हुई वस्तुओं का व्यापार करते हैं। इससे विदित है कि शूद्रों के होने और काम करने से ही दूसरे वर्ण अपने २ कामों के करने में समर्थ हो सकते हैं अन्यथा नहीं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि चारों वर्णो के परस्पर के सहयोग से ही लौकिक व्यवहारों की सिद्धि हो सकती है। उसी प्रकार जैसे शरीर के मुख, बाहु, मध्य भाग तथा जंघों के सहयोग से शारीरिक क्रिया की सिद्धि। इसलिये शूद्र न तो आर्यों से पृथक हैं और न ही शूद्र नीच हैं। बल्कि दूसरे वर्णो के समान ही हैं।

(घ) वेद में शूद्र को किसी स्थान पर भी चोरी डाका तथा दुराचार आदि नीचता-द्योतक दुर्गुणों वाला नहीं बतलाया गया। और न ही वर्तमान समय के लुहार कुम्हार बढ़ई जुलाहा आदि शिल्पकार तथा मज़दूरी पेशा श्रेणियों में दूसरे वर्णो की अपेक्षा यह दुर्गुण विशेष रूप से पाये जाते हैं। अतः इन शूद्र श्रेणियों को नीच नहीं कह सकते; हां यह दुर्गुण जरायम पेशा (Criminal tribes) दस्यु श्रेणियों में विशेष रूप से अवश्य पाये जाते हैं। परन्तु वे शूद्र नहीं बल्कि वैदिक दृष्टिकोण से दस्यु हैं इसलिए उनको तो नीच कह सकते हैं शूद्रों को नहीं। यजुर्वेद अ० ३० मं २२ में शूद्र को दस्युओं से भिन्न अपितु ब्राह्मण के समान बतलाया गया है।

———

शिल्पी और कठिन काम करने से भी आर्यत्व नष्ट नहीं होता।

खेती बाड़ी शिल्पकारी और मेहनत मजदूरी करने से भी आर्यत्व नष्ट नहीं होता और न ही इन कामों के करने से मनुष्य नीच हो सकता है। क्योंकि यह काम पापमय नहीं बल्कि पुण्यमय है। इनसे जीविका पैदा करके मनुष्य धर्म पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है और इनसे संसार का उपकार भी होता है। अथवा उसकी आवश्यकताओं की सिद्धि होती है।

रक्षा की दृष्टि से जिस प्रकार बाहो और जंघो (पैरो) की उपयोगिता एक समान है इसी प्रकार क्षत्रियों और शूद्रों में भी समानता है क्योंकि शूद्र युद्ध की सामग्री अस्त्र-शस्त्र आदि बनाते हैं और क्षत्रिय युद्ध में उन्हें प्रयोगमें लाते हैं। अपितु सत्य तो यह है कि युद्ध करने वाले सिपाही भी आजकल अधिकतर इन किसान आदि शूद्र श्रेणियों में से ही होते हैं। प्राचीन काल में अनेक धार्मिक राजा और ऋषि मुनि भी अपने परिश्रम की कमाई को पवित्र मान कर अपने हाथ से काम करके आजीविका पैदा करते और उससे आजीवन निर्वाह करते थे। शास्त्रों में इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। वेद में राजा आचार्य तथा मननशील व्यक्तियों को लोकसंग्रह के लिये हल चलाने और कपड़ा बुनने आदि के काम करने की आज्ञा दी गई है जो कि वस्तुत शूद्रों के ही कार्य हैं। यथा :—

सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णा सूत्रेण कवयो वयन्ति॥

यजु० १६ । ८०

अर्थात् कवि अथवा मननशील लोग सीसे के यन्त्र से ताना फैला कर ऊन के सूत से कपड़ा बुनते हैं॥ इससे स्पष्ट है कि वेदवेत्ता लोग भी कपड़ा बुनते थे।

वेद में आर्यों को खेती करने, कपड़ा बुनने के अतिरिक्त लोहे, लकड़ी तथा चमड़े आदि का काम करने का भी आदेश किया गया है। विस्तार भय से मैं उन मंत्रों को यहाँ उद्धत करने में असमर्थ हूँ। वेद में इन शिल्पी काम करने वाले कारीगरों का भी सत्कार करने की शिक्षा दी गई है।

ऋग्वेद मण्डल ४ सूक्त ३६ में जहां मनुष्यों को अनेक प्रकार के रथ और विमान आदि बनाने का आदेश किया गया है, वहां उनके बनाने वाले शिल्पजीवी तक्ष आदि कारीगरों की बहुत प्रशंसा और आदर किया गया है; उनमें से केवल निम्न मंत्र उदाहरण रूप में यहां दिये जाते हैं:—

रथं ये चक्रुः सुवृतं सुचेतसोऽविह्वरन्तं मनसस्परि ध्यया ।
तां ऊन्वस्य सवनस्य पीतये आवो वाजा ऋभवो वेदयामसि ॥

ऋ० ४ । ३६ । २

अर्थ—हे (वाजा) हस्तक्रिया के प्राप्त हुए (शिल्पी कारीगरों) (ऋभवः) बुद्धिमानो (ये) जो (वः) आप लोगों को (अस्य) इस (सवनस्य) शिल्पविद्या से उत्पन्न हुए कार्य की (पीतये) तृप्ति के लिये (सुचेतसः) उत्तम विज्ञान वाले

[सुवृतं] उत्तम रूप रंग के सहित [रथं] विमान आदि वाहनों को [परिचक्रुः] बनाते हैं । और जिनको हम लोग [आवेदयामसि] जानते हैं [तां] उनको [न] निश्चय करके [उ] आप शीघ्र ग्रहण कीजिए । —ऋषि दयानन्द ।

भावार्थ "हे बुद्धिमानों जो वाहनों को बनाने और चलाने में चतुर और शिल्पी जन होवें उनका ग्रहण और सत्कार करके शिल्पविद्या की उन्नति करो ।" —ऋषि दयानन्द

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त २०

अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया । अकारि रत्नधातमः ॥ १

य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरि । शमीभिर्यज्ञमाशत ॥ २

तक्षन् ना सत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथं । तक्षन् धेनुं सबर्दुघाम् ॥ ३

..................ऋभवो विष्ट्यक्रत ॥ ४

तथाः—

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः ।
सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः ॥
ऋ० १।११०।४॥

उक्त मन्त्रों का अभिप्राय यह है :—

अति उत्तम चतुर कारीगर ऋभु देवों ने इन्द्र के लिए दो ऐसे घोड़े बनाए (मिलाए) जो शब्द के इशारे मात्र से चलते थे। अश्विनिदेवों के लिए उन्होंने उत्तम गतिमान सुखदायी रथ भी बनाये तथा गऊओं को अधिक दूध देने वाली बनाया। यह ऋभुदेव शांतिपूर्वक, शीघ्र, शिल्पी कार्य करने में चतुर होने के

कारण मनुष्य होने पर भी देवत्व को प्राप्त हुए।

ऐत्रेय ब्राह्मण में भी इसको कथा रूप में वर्णन किया गया है जिसे विस्तार भय से यहां नहीं लिखा जा रहा।

वेद के उक्त मन्त्रों को अलंकारिक मानते हुए भी उनसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि कारीगरी उत्तम चीज़ है और कारीगरों को नीच और कमीन समझ कर उनसे घृणा करना भारी भूल है। अपितु आजीविका के इच्छुक वेदानुयाइयों को स्वयं कारीगर बनाकर अपने देश तथा राष्ट्र के लिए उपयोगी बनना चाहिए।

अदो यद्दारु पल्वते सिंधोः पारे अपूरुषम्।
तदारभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्॥ ऋ० १०। १५५। ३

अर्थात्—(अदः यत् दारु) जो यह कारीगरी है वह अलौकिक कारीगरी ही दारिद्र्य के समुद्र से पार होने के लिए तराती है अतः उस कारीगरी को आरम्भ करो। उत्तम कारीगरी ही दरिद्रता को हटाने वाली है॥ इत्यादि·······

जो लोग पैदायशी द्विजत्व के मद में लुहार, चमार आदि कारीगरों को नीच समझे हुए हैं उन्हें वेद की उक्त आज्ञाओं को कान खोलकर सुनना चाहिए और यह भी विचार करना चाहिए कि मानवजाति तथाराष्ट्र को लौकिक व्यवहार सिद्धि तथा दरिद्र्य नाश के लिए इन कारीगरों की कितनी आवश्यकता है। नीतिज्ञ सज्जन इसे भली प्रकार जानते हैं कि यह कारीगर राज्य का बल है। देखिये स्वयं वेद क्या कहता है।

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ॥
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥

॥ अ० ३।५।६ ॥

इस मन्त्र में राजा प्रार्थना करता है कि हे ईश्वर, ये जो (धीवान् रथकाराः) बुद्धिमान रथ बनाने वाले हैं और (ये) जो (मनीषिणः कर्माराः) बुद्धियुक्त लुहार हैं, हे (पर्ण) पालन करने वाले परमेश्वर (त्वं) तुम इस प्रकार के (सर्वान् जनान्) सब जनों (कारीगरों) को (अभितः) चारों ओर से (मह्यम्) मेरे लिए (उपस्तीन् कृण्) उपस्थित करो ॥ —ऋषि दयानन्द भाष्य

इसका अभिप्राय यह है कि राजा को अपने राज्य में लुहार बढ़ई आदि सब प्रकार के कारीगर-शूद्र रखने चाहिएं तभी वह उनसे अपनी जरूरत के लिए अस्त्र-शस्त्रादि तैयार कर सकता और राज्य और प्रजा की रक्षा कर सकता अथवा आक्रमणकारी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकता है। और इन कारीगरों की योग्यता को प्रत्यक्ष देखना हो तो इस समय के विश्वव्यापी युद्धों में देख लीजिए। जिस देश के कारीगर व मजदूर हड़ताल कर देते हैं या थोड़े होते हैं वहीं पर दुख और पराजय की घटनाएं आ जाती हैं। और जिस राज्य के पास यह कारीगर या मजदूर अधिक होते हैं वहीं पर युद्ध का सामान, अस्त्र शस्त्र और अन्नादि अधिक बनते और उत्पन्न होते हैं अतः वही बलवान होता है। क्योंकि इस प्रकार की प्रशंसा और आदर वेद में आर्यों का ही किया गया है दस्यु का नहीं, बल्कि वेद में दस्यु अर्थात् चोरों

डाकू, हिंसक की प्रसंशा होना सम्भव ही नहीं इसलिए यह निश्चित है कि कारीगर और मेहनती शूद्र आर्य हैं दस्यु नहीं हैं और आर्य नीच नहीं हो सकते।

लोहे, लकड़ी, सूत, सोने, चांदी, मिट्टी, धातु आदि से वस्तुएं बनाने वाले लुहारों, तरखानों, जुलाहों, सुनारों, कुम्हारों, ठठेरों आदि कारीगर शूद्रों के काम न तो मैले हैं न ही उनमे और किसी प्रकार का धार्मिक दोष है बल्कि मनुस्मृति अध्याय ५ श्लोक १२६ में कारीगरों की पवित्रता को स्वीकार किया गया है।

शिल्पकार शूद्र द्विज भी हैं:—यह कथन निरर्थक है कि उपनयन संस्कार द्विजों का ही विहित है शूद्रों का नहीं क्योंकि यजुर्वेद २६।२ के अनुसार शूद्रों को भी वेद पढ़ने का अधिकारी बताया है तब वह द्विजन्मा होने का भी अधिकारी अवश्य है। कारण कि उपनयन संस्कार के पश्चात् ही मनुष्य वेद आदि शास्त्र पढ़ता है यह शास्त्र मर्यादा है। (देखो मनु० अध्याय २ श्लोक १७३।)

यह कहना इसलिए भी पक्षपात तथा द्वेषमूलक है कि उपनयन संस्कार द्विजों का ही विहित है शूद्रों का नहीं, क्योंकि उपनयन संस्कार द्विजन्मा बनने के लिए ही किया जाता है। अतः जिन बालकों ने उपनयन संस्कार करा कर पढ़ना आरम्भ नहीं किया वह सब एकजन्मा हैं चाहे वह द्विज माता पिता की सन्तान ही क्यों न हों। (देखो मनु० अ० २ श्लो० १६२)

दूसरा जन्म उनका तब होता है जब वह आचार्य से उपनयन संस्कार करा कर पढ़ना आरम्भ करते हैं। इसलिए उपनयन संस्कार होता ही एकजन्मा (मनु० के शब्दों में 'शूद्र') का है द्विजों का नहीं क्योंकि जो पहले ही द्विज हैं उनके उपनयन संस्कार की आवश्यकता ही नहीं।

वैदिक काल के शूद्र तो द्विजन्मा होते ही थे यह हम सप्रमाण इस पुस्तक में बतला चुके हैं। परन्तु इस समय के शिल्पकार भी वैसे ही द्विजन्मा हैं जैसे वे सन्तानें जो अपने पिता से ब्राह्मण की शिक्षा प्राप्त करके द्विजन्मा बनते हैं, क्योंकि शिल्पकार भी अपने पिता आदि गुरुओं से अपने शूद्र वर्ण की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् ही शिल्पकार बनते हैं। यदि यह कहा जाय कि अपने पिता आदि से शिक्षा प्राप्त करने पर कोई मनुष्य द्विजन्मा नहीं हो सकता तो यह भी ठीक नहीं है। द्विजन्मा होने का वास्तविक कारण तो शिक्षा प्राप्ति करना है न कि किसी विशेष पुरुष, गुरुकुल अथवा पाठशाला से शिक्षा प्राप्त करना। यदि केवल गुरुकुल आदि शिक्षालयों से शिक्षा प्राप्त करने पर ही मनुष्य का द्विजन्मा होना मानेंगे तो वह विद्यार्थी भी जो आध्यात्मिक आदि विद्याओं के विशेषज्ञ विद्वानों से शिक्षा प्राप्त करते हैं तथा द्विज कहलाने वालों की वह सन्तानें भी जो वर्तमान स्कूलों कालिजों में पढ़कर विद्वान बनते हैं वह भी द्विजन्मा नहीं होंगे। परन्तु ऐसा मानना पक्षपात मूलक है।

घर में अपने पिता आदि गुरुओं से पढ़कर द्विजन्मा होने का

प्रबल प्रमाण यह भी है कि बालक का उपनयन संस्कार दो बार किया जाता है एक बार घर में और दूसरी बार आचार्य कुल में। घर में उपनयन संस्कार का होना इस बात का सूचक है कि प्रायः बालक अपने पिता आदि गुरुओं से घर में पढ़कर द्विजन्मा होते थे। यदि किसी को उच्च शिक्षा प्राप्त करनी होती थी तो गुरुकुल में प्रविष्ट होते थे और आचार्य उनका उपनयन संस्कार करवा कर उन्हें पढ़ाया करते थे।

यदि यह कहा जाए कि वेदोक्त विद्या ओं के प्राप्त करने से ही मनुष्य द्विजन्मा हो सकता है तब भी यह शिल्पकार द्विजन्मा हैं, क्योंकि शिल्प विद्या भी वेद-विहित है और वह विद्या उन्होंने पिता आदियों से प्राप्त की होती है इसलिए वह अवश्य द्विज हैं।

इसके अतिरिक्त आजकल भारत के कुछ एक प्रान्तों में द्विज कहलाने वाले हिन्दुओं के साथ यह सुनार, लुहार आदि शूद्र कारीगर मिले जुले हुए हैं और उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई परहेज नहीं होता अतः उनके बारे में अधिक न लिखकर केवल चमार और भंगियों के सम्बन्ध में ही लिखता हूँ। जिनके काम को विशेष रूप से मैला समझा जाता है।

चमड़े का काम करने से ही चमार नीच और अछूत नहीं हो सकते क्योंकि चमड़े छूते पहनने वाले चमड़े की पेटियां बांधने वाले, चमड़े के सूटकेस रखने वाले चमड़े के जूते और अन्य प्रकार का चमड़े का सामान बेचने वाले नामधारी द्विज

दूकानदार आदि तथा मृगचर्म को पवित्र समझ कर उसका आसन बना कर ईश्वर आराधना के समय उस पर बैठने वाले २० वीं शताब्दी के भक्त यदि नीच और अछूत नहीं हैं तो चमार क्यों नीच और अछूत हैं क्या इसलिए कि वे गरीब जूते बनाकर दूसरों के पैरों की रक्षा करते और अनेक प्रकार की चमडे की वस्तुएँ बनाकर दूसरों को लाभ पहुँचाते हैं।

और यदि मनुष्यों और पशुओं के फोडों और मुर्दा लाशों को चीरने अथवा आपरेशन और पोस्टमार्टम करने वाले जन्म के ब्राह्मण क्षत्रियादि डाक्टर नीच और अछूत नहीं हैं (वस्तुत: इन्हें अछूत और नीच समझना मूर्खता है) तो चमार वेचारे जो मृत पशुओं का चमडा उतारते हैं वह भी इस काम से नीच और अछूत नहीं हो सकते।

यदि मृत पशुओं को खाने वाले मांसाहारी द्विज नीच और अछूत नहीं हैं तो चमडे से जूते बनाने वाले बेचारे चमार क्योंकर नीच अथवा अछूत हैं ?

अथर्ववेद के अध्याय १४ सूक्त २ मन्त्र २२ व २३ में सौभाग्यवती तथा पुत्रवती स्त्रियों को चर्मासन पर बैठने का आदेश किया गया है इसी प्रकार निम्न २४ वें मन्त्र में यह आज्ञा दी गई है :—

आरोह चर्मोप सीदाग्निमेष । देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा ॥

अर्थात् - हे नारि ! इस चर्म पर आरोहण करो अग्नि के

निकट बैठ, यह अग्नि देव रोगादियों का नाश करके रक्षा करता है।

मनु० अ० २ श्लोक ४१ में भी लिखा है कि कृष्ण-मृग, रुरु मृग, अज इनके चर्मों के वस्त्र क्रमशः तीनों वर्णों के ब्रह्मचारी रखे।

वेद में मेहतरों द्वारा मल उठाने के लिए, मेहतर बनाने का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता।

मनुस्मृति के निर्माण-काल तक भी ग्रामों में मेहतर द्वारा मल उठाने की प्रथा आरम्भ नहीं हुई थी क्योंकि उस समय भी राजा नियम के अनुसार लोगों को ग्रामों से दूर जंगल में मल-त्याग करने का आदेश था जैसा कि मनुस्मृति के निम्न श्लोकों से ज्ञात होता है।

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥४९॥
दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम ॥
उच्छिष्टान्नाशेकं च दूरादेवसमाचरेत् ॥ १५१॥

अर्थात्—गृह से मलमूत्र और जूठन आदि का त्याग दूर ही करे। तथा लकड़ी ढेला घास पत्ता आदि से छिप कर दिशा फिरे बोले नहीं शरीर पर वस्त्र ओढ़ले . इत्यादि ॥

इसी प्रकार दूसरी प्राचीन स्मृतियों मे भी मल उठवाने का वर्णन नही आता हो औशनस स्मृति [जा कि नवीन स्मृति है] के निम्न श्लोक में मल उठाने का वर्णन अवश्य किया है।

मलाकर्पणं ग्राम पूर्वाण्हे परिशुद्धिकम् ।
अपराह्ने प्रविशोऽप वहिर्ग्रामाचनैर्ऋते ॥१०॥

अर्थात्—मध्याह्न से पहिले ग्राम का शुद्धि के लिए मल को उठाए, मध्याह्न के उपरान्त ग्राम में प्रवेश न करे और ग्राम से बाहर नैऋत कोण मे वास करे।

इस श्लोक से भी यह विदित होता है कि औशनस स्मृति काल मे भा आजकल के से नियमों का पालन करने वाले नागरिक गृहस्थ मेहतर मल उठाने वाले नहीं थे बल्कि लूट मार करने वाले (जरायम पेशा) दस्युओं का ही दिन का ग्राम का मल उठाने के लिये लगाया गया और उनसे नागरिकों की रक्षा करने के लिए यह नियम बना दिया गया था कि यह मध्याह्न से पहिले ही ग्राम का मल उठावें और ग्राम मे मध्याह्न के उपरान्त प्रवेश न करें। रात में ग्राम के बाहर नैऋत कोण मे रहें।

मेहतर मल उठाने के कारण नीच नहीं हो सकते क्योंकि उनका काम सफाई करके जनता को रोगों और दुखों से बचाना है इसलिए जिनके जिस काम से लोगों का उपकार होता है और सुख मिलता है वह काम नीच कैसे हो सकता है। और यदि मैला उठाना नीचता है तो प्रत्येक मनुष्य नीच है क्योंकि वह हर समय मैले का थैला अपने साथ उठाये फिरता है उसे किसी समय भी अपने से पृथक नहीं कर सकता। रसोई बनाने,भोजन करने के समय भी वह उसके साथ रहता है। वे माताएँ जिनकी तीन चार सन्तानें हों वर्षों बच्चों का मैला साफ करती रहती हैं।

सम्बन्धी अपने रोगियों का मैला उठाते हैं। प्रत्येक मनुष्य दोनों समय अपने हाथ से अपना मैला धोता है। डाक्टर मल मत्र का विश्लेषण (Analysis) करते हैं। मेहतर तो उपकरण से मैला उठाते हैं परन्तु प्रत्येक मनुष्य जिन हाथों से प्रतिदिन अपना मैला धोते हैं उन्हीं को साफ करके उन्हीं से भोजन बनाते व करते हैं। यदि उक्त सब मनुष्य मैला उठाने और धोने से नीच नहीं होते और हाथों तथा गुप्त अंगों को साफ करके शुद्ध हो सकते हैं तो इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि मेहतर भी मल उठाने से नीच नहीं हो सकते और शरीर तथा वस्त्रों को साफ करके शुद्ध हो सकते हैं।

इसलिए छूत अछूत के कट्टर पक्षपाती भाई मुझे इस कड़वी सचाई को लिखने के लिये क्षमा करेंगे कि धार्मिक दृष्टिकोण से तो चमड़े के जूते बनाना और मल साफ करना नीचता का काम नहीं है क्योंकि उनके इन कामों से जनता का उपकार होता है। अतः यह पाप नहीं है। परन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि अपनी जन्म-सिद्ध श्रेष्ठता के मद में अपने जैसे इन्द्रिय रखने वाले अपने इन भाइयों के जन्मसिद्ध मानवीय अधिकारों को अपने सामाजिक बल से कुचलकर उन्हें उन्नति करने से आजीवन वञ्चित रख कर जन्म भर दीन हीन और क्षीण अवस्था में पड़े रहने के लिए विवश कर देना अवश्य ही नीचता है। अथवा यह समझिये कि जूते बनाने वाले तथा मल उठाने वाले तो नीच नहीं हैं बल्कि नीच तो वे हैं जो कि दूसरों के हित का

नाश करते तथा पापी और दुराचारी हैं चाहे वह जन्म से किसी भी वंश और किसी भी वर्ण के क्यों न हों ?

मेरे पूर्वोक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने अपने कामों की दृष्टि से प्रत्येक वर्ण की उपयोगिता मानव समाज के लिये अत्यन्त आवश्यक है और वैदिक वर्ण की स्थिति से कोई मनुष्य ऊँच और कोई नीच नहीं, क्योंकि वेद ने वर्णों को मानव शरीर के अंगों से उपमा दी है। (यजु० ३१।११) मनुस्मृति अध्याय ६ में लिखा है—

> तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते।
> येनयत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन्श्रेष्ठमुच्यते ॥ मनु० ६।२६७

अर्थात्-उन उन कामों में वही वही अंग बड़ा है जिस जिससे जो जो काम सिद्ध होता है वह उसी में श्रेष्ठ कहाता है।

प्रत्येक वर्ण और आश्रम में आचार की दृष्टि से नीच और ऊँच अथवा दुष्ट और श्रेष्ठ पाए जाते हैं—अर्थात् जो आचार-सम्पन्न हैं वे किसी भी वर्ण के क्यों न हों वे ऊँच और श्रेष्ठ तथा जो आचारहीन हैं वे नीच और दुष्ट। महाभारत के निम्नों श्लोक से इसका पूर्णत समर्थन होता है।

> हिंसानृत प्रियालुब्धा सर्वकर्मोपजीविनः।
> कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजा शूद्रतां गताः॥
> म०भा०शा०प०अ० १८८, श्लोक १३।

अर्थात्—जो ब्राह्मण हिंसायुक्त मिथ्यावादी लोभी सब कर्म

के करने वाले और शौच से रहित हैं वह शूद्र होगए (दस्युता को प्राप्त हुए)।

दृश्यन्ते मानवे लोके सर्ववर्णेषु दस्यवः।
लिंगान्तरे वर्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ॥ महा० भा० शा० प०
अ० ६५० श्लोक

अर्थात्—मनुष्यों के चारों वर्णों और चारों आश्रमों में दस्यु (आचार हीन, नीच और दुष्ट) पाए जाते हैं। मनु० अ० ८ श्लोक ६३ में भी लिखा है कि चारों वर्णों में आप्त, धर्मज्ञ और निर्लोभी पुरुष होते हैं?

इससे भी स्पष्ट है कि कोई विशेष वर्ण ऊँच और नीच नहीं है बल्कि सब वर्णों में आचार सम्पन्न ऊँच और आचार-हीन व्यक्ति ही नीच हैं।

अब यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि जबकि वेदादि शास्त्रों में शिल्पकारादि शूद्रों का इतना महत्व वर्णन किया गया है तो फिर क्या कारण है कि इन शिल्पकारों और उनके व्यवसायों को इतना नीच समझा जाता है। मेरी सम्मति में न तो यह शिल्पादि पेशे बुरे हैं और न ही इन पेशों के करने के कारण शिल्पी कारीगर नीच बने हैं बल्कि कारण यह हैं :—

(क) प्राचीन काल में दस्युओं को भी आर्य बनाने के लिये राजाज्ञा से उनकी आजीविका की सिद्धि के लिये इन शिल्पी कार्यों के करने पर लगाया जाता था। इसलिये उन आचारहीन

दस्युओं के पेशे बनने के कारण यह लुहार बढ़ई आदि के पेशे भी नीच और दूषित समझे जाने लगे।

(ख) दुर्भाग्यवश जब पौराणिक काल में वेद विरुद्ध जन्म-मूलक वंशीय वर्ण-व्यवस्था मान ली गई तब वर्णों को जन्म से ही क्रमशः उत्तम मध्यम निकृष्ट तथा पतित मान लिया गया। इसलिए शूद्र को भी नीच समझ लिया गया और नीचों के पेशे होने के कारण इन शिल्पी पेशों को भी बुरा समझा जाने लगा।

(ग) स्मृति काल में नीच वर्ण के पुरुष और उच्च वर्ण की स्त्री से तथा व्यभिचार से उत्पन्न होने वाली सन्तानों को वर्णसंकर समझ कर उन्हें जन्म से ही भिन्न २ जातियों के शूद्र (दस्यु) समझा जाता था। और राज नियम से उनकी आजीविका के लिए खास २ शिल्पी पेशे निश्चित कर दिये जाते थे। जैसा कि मनुस्मृति अध्याय १० श्लोक ११, १२ आदि में वर्णसंकरों की उत्पत्ति बतलाई गई है और श्लोक ४७, ४८ में उनके कार्य अथवा पेशे भी निश्चित कर दिए गये हैं। इसी प्रकार औशनस स्मृति में भी जन्म से शूद्रों और वर्णसंकरों की उत्पत्ति और काम (पेशे) निश्चित कर दिए गये हैं। (विस्तार भय से श्लोक यहां नहीं दिये गए)।

स्मृतियों में उल्लिखित इस प्रकार की व्यवस्थाओं से पता चलता है कि स्मृति तथा पौराणिक काल में दस्युओं तथा वर्ण-संकरों के पेशे हो जाने के कारण यह शिल्पी काम और उनके

करने वाले नीच समझे जाने लगे, इसलिये जन्मसिद्ध द्विजों ने इनको करना भी छोड़ दिया। परन्तु न तो जन्म से और न ही शिल्पी कामों के करने से कोई नीच और पापात्मा हो सकता है, बल्कि नीच वह है जो आचारहीन और दुष्ट है।

दस्युओं को ही द्विजों की वैयक्तिक सेवा के काम पर लगाया गया था

यह दिखाया जा चुका है कि दस्युओं के सुधार तथा उनकी जीविकासिद्धि के लिये उन्हें शिल्पकारी के कामों पर लगाया जाता था। इसके अतिरिक्त स्मृतियों और सूत्रग्रन्थों के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि जिन पौराणिक शूद्रों (वैदिक दस्युओं) का पीछे वर्णन किया गया है, उन्हीं शूद्रों को पाप-वृत्ति से हटा कर व्यवसायी बनाने के लिये द्विजों की वैयक्तिक सेवा के काम पर भी लगाया जाता था। अथवा यह कि स्मृतियों में जिन शूद्रों के सम्बन्ध में यह लिखा है, कि "एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत्" मनु० १।९१ अर्थात् शूद्रों का काम द्विजों की सेवा करना ही है —वह वैदिक शूद्र न थे बल्कि पौराणिक शूद्र (वेद के दस्यु) ही थे। इसका समर्थन निम्नलिखित प्रमाणों से होता है :—

प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दास जीवनम्।
सैरिन्ध्रं वागुरा वृत्तिं सूते दस्युरयोगिवे॥ मनु० १०।३२

अर्थात्—बालों में कंघी आदि करना, चरण धोना, स्नान

कराना आदि कामों से जीने वाले सैरन्ध्र नाम दस्यु से अयोगिव उत्पन्न होता है। इससे स्पष्ट है कि द्विजों की सेवा का काम दस्यु (पौराणिक शूद्र) करते थे न कि वैदिक शूद्र।

मलापकर्षणं ग्रामे पूर्वाह्णे परिशुद्धिकम्।
न मध्याह्ने प्रविष्टोऽपि बहिर्ग्रामाच्च नैऋत ॥ औशनस १० ॥

अर्थात्—(दस्यु) मध्याह्न से पहले ग्राम में शुद्धि के लिये मल को उठावे और मध्याह्न के उपरांत ग्राम में प्रवेश न करे। और ग्राम के बाहर नैऋत कोण में रहे।

इस श्लोक से ज्ञात होता है कि दस्युओं को ही नागरिकों की सेवा के कार्य पर लगाया गया था, इसलिये ही इन्हें रात को नगर में आने की आज्ञा नहीं दी गई बल्कि शहर के बाहर निर्दिष्ट स्थान पर रहने की आज्ञा दी गई है क्योंकि इनसे चोरी डाके आदि का भय था। ब्रह्मवैवर्त पुराण अध्याय ८३ में भी लिखा है —

विप्राणामर्चनं नित्यं शूद्रधर्मो विधीयते।
तद्द्वेषी, तद्धनग्राही शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेत् ॥

अर्थात—विद्वानों का आदर करना ही शूद्रों का धर्म है। उसे छोड़ कर जो शूद्र उनसे द्वेष करता है अथवा उनका धन लूटता है वह चाण्डाल (दस्यु) हो जाता है क्योंकि धन लूटने वाले को ही दस्यु कहते हैं। इससे भी यही ज्ञात होता है कि दस्यु को ही वैयक्तिक सेवा के काम पर लगाया गया।

शूद्र सेवकों को "दास" कहना भी इस बात का प्रमाण है कि दस्युओं को ही वैयक्तिक सेवा के काम पर लगाया गया था क्योंकि दास शब्द भी वेद में से ही लिया गया है, और वेद में दास शब्द सब स्थानों पर हिंसक के अर्थ में ही आया है, सेवक अर्थ में नहीं। मूर्ख और नीच भी इन हिंसक दस्युओं अथवा दासों (पौराणिक समय के शूद्रों) को ही कहा गया है न कि लुहार कुम्हार चमार आदि कारीगर और श्रमजीवी आर्य शूद्रों को। दास शब्द के अर्थ में जो परिवर्तन अथवा उन्नति हुई है वह उन दस्युओं अथवा दासों को सेवा के काम पर नियुक्त किये जाने के पश्चात् आर्यों के संसर्ग से उनके आचार व्यवहार में सुधार हो जाने पर ही हुई है। क्योंकि इन दासों में से जो जो व्यक्ति उच्च विचार और आचार के हो जाते थे वह आर्य बन जाते थे। यह नियम था जैसा कि मनु ने भी लिखा है :—

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ।

ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ मनु ९ । ३३५ ॥

अर्थात् शुद्ध रहने वाला, मेहनती, नम्रता से बोलने वाला, अहंकार रहित, नित्य प्रति ब्राह्मण आदि द्विजों की सेवा करने वाला, शूद्र (दस्यु) उच्च जाति को प्राप्त हो जाता है।

यह समझना भी भूल है कि सेवा के काम को नीच काम समझ कर दस्युओं का इस काम पर लगाया गया। क्योंकि वे किसी और काम को जानते ही नहीं थे, इसलिये उनमें से जो शिल्पकारी के काम कर सकते थे उनको शिल्पकारी के काम

पर लगाया गया, शिल्पी काम करना सामाजिक तथा राष्ट्रीय सेवा है। और जो उन में से शिल्पकारी नहीं कर सकते थे उनको वैयक्तिक सेवा के कामों पर लगाया गया। आर्यों के सम्पर्क से उन में से जो सेवक आचार विचार से शिक्षित और उन्नत हो जाते थे उन्हें आर्यों में मिला लिया जाता था। जैसे कि मनुस्मृति के उक्त श्लोक में दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त—

आर्यों में सेवा के काम को नीच काम भी नहीं समझा जाता। सेवा करने के कारण ही दास शब्द अत्यन्त उन्नत हो गया है। वर्ण-व्यवस्था की आयोजना भी राष्ट्र-सेवा के उद्देश्य से ही की गई है, अर्थात् चारों ही वर्ण अपने-अपने कामों से राष्ट्र की सेवा करते हैं। आर्यों में वैयक्तिक सेवा भी नीच नहीं अपितु उत्तम काम समझा जाता था। उदाहरण के लिये मैं पूछता हूँ कि पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में वह कौन राजसेवक था जिसने अपने जिम्मे मेहमानों के चरण धोने का कार्य लिया था। वह कौन सेवक था जिसने अर्जुन का रथवान बनना स्वीकार किया था। क्या वह कोई नीच दस्यु अथवा शूद्र व्यक्ति था? नहीं, अपितु वह सेवक पाण्डवों का ही नहीं, समस्त भारतीयों का परम पूज्य भगवान कृष्ण था। जिसकी कि उस यज्ञ के आरम्भ में सर्वपूज्य मानकर पूजा की गई थी। यह एक ऐसा ऐतिहासिक उदाहरण है जो कि आक्षेप करने वालों के हृदय में भी निश्चित रूप से सेवा के महत्त्व को अंकित कर देगा।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था जन्ममूलक नहीं है

पूर्वोक्त वैदिक प्रमाणों से भली भांति स्पष्ट कर दिया गया है कि वैदिक वर्ण-व्यवस्था की आयोजना लौकिक व्यवहार की सिद्धि अथवा मानव जाति की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले कार्यों को सफलता पूर्वक करने के लिए ही की गई है। और ब्राह्मणादि वर्ण (पेशे) पढ़ाने और उपदेश करने, प्रबन्ध और रक्षा करने, व्यापार तथा शिल्पकारी आदि २ भिन्न २ कार्यों के करने से ही बनते हैं। अथवा उक्त कार्यों के करने वाले ही क्रमशः ब्राह्मणादि वर्ण कहलाते हैं। इन कामों के करने की योग्यता मनुष्यों में जन्मसिद्ध नहीं होती चाहे वह इन कामों के करने वाले ब्राह्मणादि की ही सन्तान क्यों न हों बल्कि इन कामों के करने की योग्यता शिक्षा द्वारा (द्विजन्मा होने पर) ही प्राप्त की जाती है। इसलिए वर्ण जन्ममूलक नहीं हो सकते।

ब्राह्मण आदि वर्णस्थ मनुष्यों में जन्ममूलक कोई भी जातिगत भेद (चिन्ह) ऐसा नहीं है जिसको देख कर उनका वर्ण जाना जा सके। भविष्य महापुराण के निम्न श्लोक से भी इसका समर्थन होता है:—

तस्मान्न गोऽश्ववत् कश्चित् जातिभेदोऽस्ति देहिनाम्।
कार्यशक्तिनिमित्तस्तु संकेतः कृत्रिमो भवेत्॥ ३१॥

भविष्य महा.पु० ब्रा० अ० ४०॥

इससे पहिले श्लोक ३४ में चारों वर्णों का वर्णन करते हुए इस श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि गौत्रों और घोड़ों के समान मनुष्यों में जन्म से जाति-भेद नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार गौओं और घोड़ों में जन्म से ही इन्द्रिय भेद होने के कारण जाति-भेद है इस प्रकार का कोई भेद जन्म से वर्णों में परस्पर नहीं है इसलिए वर्ण जन्म-सिद्ध नहीं हैं बल्कि कार्यशक्ति के निमित्त से मनुष्यों में वर्ण भेद माना जाता है। अतः वर्ण कृत्रिम हैं जन्म-मूलक नहीं है। म० महापुराण अ० ४४ श्लोक ३४ में भी लिखा है कि यदि वर्ण जन्मतः होता तो वह बाहिर के चिन्हों से क्यों न प्रगट होता।

यद्यपि मनुस्मृति में उस समय की वर्णस्थ प्रजा के रीति रिवाजों के अनुसार वर्णों को जन्ममूलक मान कर उनके परस्पर के झगड़ों तथा सामाजिक समस्याओं को निबटाने के लिए नियम (कानून) बना दिए गए तथापि स्वयं मनु जी महाराज भी सिद्धान्त रूप से वर्णों को जन्ममूलक नहीं मानते थे यथाः—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।

क्षत्रियाज्जातमेवंतु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥ मनु० अ० १०। ६५

अर्थात्—शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य का सन्तानों के वर्ण भी बदल जाते हैं। अथवा चारों वर्णों के व्यक्ति अपने २ कार्यों को बदल कर अपने वर्णों को भी बदल सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनु जी ने स्वयं वर्णों को जन्ममूलक नहीं माना। क्योंकि जन्ममलक

जाति जीवन भर नहीं बदल सकती जैसे घोड़ा गाय और गाय घोड़ा नहीं हो सकते—इसी प्रकार यदि वर्ण भी जाति की भांति जन्ममूलक हों तो वह भी बदल नहीं सकते। क्योंकि मनु जी वर्णों का बदलना मानते हैं। इससे निश्चित है कि वे सिद्धान्त रूप से वर्णों को जन्ममूलक नहीं मानते। इसी प्रकार भविष्य पुराण अध्याय ४० श्लोक ४८ तथा महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १४३ श्लोक २६ में भी लिखा है कि चारों वर्णों के मनुष्य अपने वर्ण बदल सकते हैं।

यदि वर्ण-व्यवस्था जन्ममूलक होती तो महाभारत शान्ति पर्व अध्याय २९६ के श्लोक ११ से १७ तक में वर्णित कश्यप, व्यास, वसिष्ठ, कृप, यवक्रीत, मतंग आदि दासीपुत्र ऋषि मुनि ब्राह्मणत्व को प्राप्त न हो सकते।

जीविका उपार्जन करने वाले कार्यों के करने से ही मनुष्य का वर्ण निश्चित होता है और जीविका का सम्बन्ध गृहस्थ आश्रम से ही है दूसरे आश्रमों से नहीं, अर्थात् वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम में वर्ण नहीं रहता। इससे स्पष्ट है कि वर्ण परिवर्तनशील है और परिवर्तनशील होने से जन्ममूलक नहीं हो सकता।

———

वर्ण के जन्म-मूलक बन जाने का कारण

इस से पूर्व उद्धृत वेद मन्त्रों द्वारा यह भली भांति सिद्ध किया जा चुका है, कि चारों वर्ण अपने भिन्न २ वर्णात्मक (व्यावसायिक Professional) कार्यों की नींव पर बनते हैं अर्थात् जो मनुष्य वेद प्रदर्शित ब्राह्म आदि चतुर्विभाग (Departments में से जिस विभाग के काम को करता है उसी के अनुसार उसका वर्ण बनता है चाहे उसका जन्म किसी भी वर्ण वाले अथवा वर्ण रहित (दस्यु) माता पिता के यहां क्यों न हुआ हो। वेद की इस मर्यादा के अनुसार ब्राह्मण काल तक मनुष्य अपनी अपनी वर्णात्मक शिक्षा योग्यता के अनुसार अपनी २ आजीविका तथा लौकिक आवश्यकताओं की सिद्धि के लिए भिन्न-भिन्न वर्णों का काम करते चले आ रहे थे। और भिन्न २ वर्णों का काम करने वाले व्यक्ति परिवार रूप से एक ही घर में प्रेम-पूर्वक रहते थे। जैसाकि आजकल एक ही पिता के पुत्र अध्यापक, जज, व्यापारी और इंजीनियर आदि मिलकर रहते हैं, परन्तु इस प्रकार दीर्घ काल तक ब्राह्म आदि विभागों में काम करने वाले ब्राह्मणादि कार्यकर्त्ताओं के शनैः शनैः परिवार बनने गए क्योंकि स्वभावतः उनकी सन्तानें भी अपने २ पूर्वजों के ही काम करने लग गई थीं और जिन्होंने अपने पूर्वजों के वर्ण का काम न भी किया वह भी उसी वर्ण के समझे जाने लगे जो कि उनके पूर्वजों का था। जैसा इस समय भी ब्राह्मणों.

क्षत्रियों, वैश्यों, लुहारों, चमारों, कहारों आदि पेशावरों की जो सन्तानें अपने वंशीय कार्यों अथवा पेशों को नहीं करतीं बल्कि दूसरे दूसरे पेशे खेती बाड़ी आदि करती हैं। उन्हें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, लुहार, चमार आदि कहा जाता है।

इस प्रकार चारों वर्णों के खानदान बन जाने पर शनैः शनैः उनके विवाह आदि सामाजिक सम्बन्ध भी प्रायः एक प्रकार के व्यवसाय वाले परिवारों में होने लग गए। ऐसे ही विवाहों को सवर्ण विवाह (एक ही प्रकार के वर्ण—पेशा वाले कुमार कुमारी का विवाह) कहा जाता है। ऐसे विवाहों में लाभ तो यह हुआ कि दम्पति मिलकर अपने पेशा का काम कर सकते थे और एक दूसरे की अनुपस्थिति में भी वर्ण का काम चलता रहता था, और आजीविका की सिद्धि भी होती रहती थी परन्तु इससे हानि भी हुई। वह यह कि एक तो विवाह का विस्तृत क्षेत्र संकुचित हो गया, दूसरे मानव समाज अनेकों जन्ममूलक फिरकों तथा कल्पित जात-पात में विभक्त हो गया। इस प्रकार के अनेकों वेद-विरोधी दोषयुक्त परिवर्तन मानव समाज में हो गए। और इस जन्म-मूलक फिरकाबन्दी के कारण वर्णात्मक जगत् में परस्पर वैर-विरोध और झगड़े होने लगे तथा उनमें विविध प्रकार के रीति-रिवाज भी प्रचलित हो गए।

इसलिए तत्कालीन शासकों के लिये आवश्यक हो गया कि प्रजा की सामाजिक व्यवस्था को नियमित रखने और उनके सामाजिक

झगड़ों को निपटाने के लिए प्रजा के सामाजिक रीति रिवाजों तथा व्यवहारों को दृष्टि में रखते हुए राज्य की ओर से नियमों (कानूनों) को निर्धारित किया जाए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्मृति निर्माण का आरम्भ हुआ।

यद्यपि स्मृतियां समय २ के प्रसिद्ध विद्वानों के नाम से प्रसिद्ध हैं, परन्तु हैं यह समय २ के राजाओं के कानून और इन्हें राज्यों की नियम निर्धारित करने वाली सभाओं ने बनाया है और वह सभा के प्रमुख विद्वानों के नामों से प्रसिद्ध हुई हैं। स्मृतियों में वर्णित विषयों को मुख्य दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम 'विधि विभाग" जिसमें वर्णों और आश्रमों की धार्मिक मर्यादाओं का विधान और उनके पालन करने का आदेश दिया गया है। द्वितीय "न्याय विभाग' जिसमें वर्णात्मक जगत् की सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए उसके सामाजिक रीति रिवाजों के आधार पर बनाए हुए नियमों का निरूपण है। रीति रिवाजों के आधार पर बनाए हुए कानूनों का प्रमाण मनुस्मृति के निम्न श्लोकों से मिलता है —

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ मनु २।१८

अर्थात्—इस देश (ब्रह्मावर्त) में परम्परा से प्राप्त जो वर्ण और वर्णसंकरों का आचार है। उसको सदाचार कहते हैं।

जातिजानपदान्धर्मान्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ मनु० ८।४१

अर्थात्—धर्म का जानने वाला (राजा) जाति-धर्म, देश-धर्म, श्रेणी-धर्म (वर्ण-धर्म) और कुधर्म को अच्छी प्रकार देख कर राजधर्म (कानून) को प्रचलित करे (यहां पर धर्म शब्द का अर्थ भाष्यकारों ने रिवाज ही किया है) । पहिले श्लोकों में वर्णों और वर्णसंकरों—भिन्न २ पेशा वाले दम्पति को सन्तानों, के परम्परा से प्राप्त आचार को सदाचार बतलाया गया है (भाष्यकारों ने यहां पर सदाचार का अर्थ—'सदा का आचार' (रीति-रिवाज) किया है । दूसरे श्लोक में तो राजा को स्पष्ट आदेश किया गया है कि वह प्रजा की जाति देश श्रेणी और कुल के रीति रिवाजों के अनुसार ही उनके सामाजिक झगड़ों को निबटाने के लिए राज-धर्म (कानून) बनाए । इस समय भी प्रजा सम्बन्धी कानून बनाने का यही नियम है । इससे स्पष्ट है कि जो स्मृतिकार (मनु) राजा को पूर्वोक्त आदेश करता है उसने वर्णात्मक प्रजाओं की सामाजिक समस्याओं को निर्णय करने के लिए जो नियम अपनी स्मृति मे निर्धारित किए हैं, वह अवश्य ही उसने उस समय की प्रजा के रीति रिवाजों के अनुसार बनाए होंगे ।

इसके अतिरिक्त प्रजा के रीति रिवाजों के अनुसार नियम बनाने का प्रमाण यह भी है कि मनुस्मृति से स्मृतियों का आरम्भ करके अनेकों स्मृतिया बनाई गई हैं क्योंकि जैसे २ प्रजा के आचार व्यवहार अथवा रीति रिवाजों मे परिवर्तन होता रहा है, वैसे वैसे उनके अनुसार नई नई स्मृतिया भी बनाई जाती रही हैं और पहिली स्मृतियों के वर्णित प्रजा के रिवाज मन्सूख होते रहे

हैं। जैसा कि पाराशर स्मृति के निम्न श्लोक से विदित है।

कृते तु मानवाधर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः।
द्वापरे शंखलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः ॥पराशर१।२४।

अर्थात्—सतयुग में मनुस्मृति से धर्मनिर्णय होता था, त्रेता युग में गौतम स्मृति से, द्वापर में शंख और लिखित स्मृति से और कलयुग में पाराशर स्मृति से।

इससे विदित है कि प्रजा के परिवर्तित हुए हुए रिवाजों के अनुसार नई २ स्मृतियां बनती रही हैं और पहिली स्मृतियों में वर्णित रीति रिवाज मन्सूख होते रहे हैं। और यह क्रम उस समय तक जारी रहा जब तक कि आर्यों का राज्य रहा और प्रत्येक समय में बनाई गई, नई स्मृति के अनुसार ही प्रजा के झगड़ों का निर्णय होता रहा। जिससे यह सिद्ध है कि मनुस्मृति आदि स्मृतियों में जो जन्मसिद्ध वंशीय वर्ण-व्यवस्था को माना गया है यह न तो स्मृतिकारों का अपना मन्तव्य है और न ही वेदानुकूल है। स्मृतियों में उस समय की प्रजा के रीति रिवाजों के अनुसार उसकी सामाजिक समस्याओं और झगड़ों के निबटाने के लिए जो नियम बनाए गए थे वह आजकल की वर्णात्मक प्रजा पर लागू भी नहीं हो सकते। क्योंकि समय के परिवर्तन तथा विदेशियों के आगमन और राज्य हो जाने से भारतीय प्रजा की सामाजिक बनावट तथा आचार व्यवहार अथवा रीति रिवाजों में बड़ा भारी परिवर्तन होगया है। सारांश यह कि यद्यपि इस समय भी भारतीय समाज के लोग ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कहलाते हैं तथापि स्मृति काल के

ब्राह्मणादि वर्णों मे जो रिवाज थे वह अब उनमें नहीं है। बल्कि सच तो यह है कि भारत मे प्रायः अब तो वैदिक काल की भांति प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह इस समय किसी भी नामधारी वर्ण अथवा कल्पित जाति मे उत्पन्न क्यों न हुआ हो शिक्षा पाकर योग्यता प्राप्त करने पर अध्यापक उपदेशक (ब्राह्मण) जज, सिपाही (क्षत्रिय) व्यापारी (वैश्य) तथा शिल्पकार (शूद्र) आदि २ बन सकता है। स्मृति काल का कोई भी कानून उसका बाधक नहीं हो सकता।

जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था और वर्णों की परस्पर की श्रेष्ठता और निकृष्टता का कारण उनकी परस्पर की लौकिक शक्ति की न्यूनता और अधिकता है। अर्थात् जिस वर्ण की लौकिक शक्ति प्रबल थी वह उसके मद मे जन्म से ही अपने आप को दूसरे से उच्च और पवित्र तथा दूसरों को अपने से नीच और अपवित्र मानने लग गया। भारत मे सबसे प्रबल शक्ति वेद और वैदिक विद्याओं की थी। कुशाग्र बुद्धि और बाल की खाल उतारने वाले गौतम, कणाद और कपिल आदि दार्शनिकों ने भी वेद को ईश्वरीय ज्ञान मान कर उसको परम प्रमाण माना है। क्योंकि ब्राह्मणों का वर्णात्मक काम वेद और अन्य विद्याओं का पढ़ाना और प्रचार करना था इसलिए वह वेद के विद्वान और दूसरों के गुरू बने रहे। जिसके कारण स्वय वह और वेद न जानने वाली उनकी सन्तानें भी जन्म से उच्च और श्रेष्ठ समझी जाती रहीं।

दूसरी बड़ी शक्ति राज्य अथवा क्षात्र बल और तीसरी शक्ति धन की थी। इसलिए क्षत्रिय और वैश्य भी अपने को जन्म से ही उत्तम और दूसरों को नीच समझने लग गये। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इस समय की यूरोपियन जातियों के आचार व्यवहार से मिलता है जोकि केवल लौकिक शक्ति के कारण जन्म से ही अपने को रंगदार जातियों से उच्च मानती हैं। चौथी शक्ति शूद्र की है परन्तु उनमें सगठन न होने के कारण, उनकी लौकिक शक्ति बिखरी होने से न्यूनतम है। अतः यह बेचारे जन्म से ही नीच और अछूत समझे जाने लगे।

जन्ममूलक वर्णव्यवस्था बन जाने का तीसरा कारण यह भी है कि स्मृति काल में यह राजनियम बना दिया गया कि चारों वर्ण अपने अपने नियत कार्यों द्वारा ही अपनी आजीविका सिद्ध करें दूसरे वर्ण के कार्यों से नहीं। और उनकी सन्तानें भी वही काम करें। जोकि उनके पूर्वज करते आये हैं। इसलिए आजीविका सम्बन्धी कार्यों का जन्म से सम्बन्धित हो जाने के कारण, कार्यों के आधार पर बनने वाले वर्ण भी जन्म से ही माने जाने लगे। (देखो मनु० अ० १० श्लो० ७४ से ८०तक)

भिन्न-भिन्न वर्ण को उस अवस्था में दूसरे वर्ण के कार्य को करने की इजाजत दी गई है जब वह अपने वर्ण के काम से अपना जीवन-निर्वाह न कर सकें। अर्थात् केवल आपत्ति काल में।

यह तो निश्चित है ही कि लोक में विद्या, राज्य,

रुपया और बाहु-बल चार बड़ी भारी शक्तियां हैं। इनमें से जिसकी शक्ति अधिक बढ़ जाएगी वह दूसरों को दबा लेगी। इसलिए यह आवश्यक है इसका संतुलन (Balance) एक समान रखा जाए ताकि समाज की दशा बिगड़ने न पाये।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था आचारमूलक भी नहीं है

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि लोक में शान्ति, सुख, समृद्धि अथवा अभ्युदय और निश्रेयस् की प्राप्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि मानव समाज आचार सम्पन्न हो। इसीलिए वेद ने मनुष्य मात्र को धर्मात्मा बनने अथवा आचार सम्पन्न होने का आदेश किया है यथा :—

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवः। ऋ० म० १ सू० ५१ मन्त्र ८

अर्थात् मनुष्यों के आर्य (धार्मिक विद्वान) और दस्यु (अधार्मिक दुष्ट डाकू और चोर) दो ही भेद जानो।

इस मंत्र से जहां यह सिद्ध होता है कि वेद में ब्राह्मण आदि चतुर्वर्ण का भेद आचार की दृष्टि से नहीं माना गया क्योंकि आचार भेद से मनुष्यों के आर्य (भले, और दस्यु (बुरे) दो ही भेद माने हैं, वहाँ यह भी विदित होता है कि मनुष्य मात्र को आचार सम्पन्न होना चाहिये।

इन्द्रं वर्धन्तु अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।
अपघ्नन्तो अराव्णः ॥ ऋ० २७। ६३।

अर्थात् ईश्वर की महिमा को बढ़ाते हुए (आस्तिकता का

प्रचार करते हुए) बुरों की बुराइयों का नाश करते हुए सारे संसार को आर्य (आचार सम्पन्न) बनाओ।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ ऋग्० १० १३ ७।१

अर्थात् हे दिव्य गुण सम्पन्न विद्वानो ! गिरे हुए मनुष्यों को फिर उन्नत करो अथवा ऊपर उठाओ। हे विद्वानो ! पाप अथवा अपराधों के करने वालों को फिर उत्तम जीवन से युक्त करो।

इन दोनों वेद मन्त्रों में यह आदेश किया गया है कि मनुष्य मात्र को आचार सम्पन्न होना चाहिए। मनुस्मृति में भी चारों वर्णों का धर्म एक समान बतलाया है। यथा :—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ मनु १०। ६३ ॥

इस श्लोक में संक्षेप से अहिंसक होना, सत्य भाषण करना, दूसरों का धन अन्याय से न हरना, पवित्र रहना और इन्द्रियों निग्रह करना चारों वर्णों का समान धर्म बतलाया है।

मनु जी ने दूसरे पर भी लिखा है :—

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ मनु० ८।६३॥

अर्थात् सब वर्णों में जो यथार्थ कहने वाले निर्लोभी पुरुष हों उनको कामों में साक्षी करना चाहिए इनसे विपरीत पुरुषों को नहीं।

इस श्लोक से स्पष्ट है कि आप्त पुरुष और अधार्मिक भी प्रत्येक वर्ण मे हो सकते है, अत आचार की विभिन्नता से वर्ण प्राप्त नहीं होते और आचार की दृष्टि से चारों वर्णों में कोई भेद नहीं है।

इतना ही नहीं कि वेदादि शास्त्रों में सिद्धान्त रूप से ही मनुष्य मात्र का समान धर्म बतलाया गया है बल्कि वैदिक काल में चारों वर्णो का आचार क्रियात्मक रूप मे भी एक ही समान था जैसा कि महाभारत अध्याय १८६ वन पर्व (जो पीछे उद्धृत किये जा चुके हैं) के श्लोक १८—२० तक मे लिखा है कि.—

सतयुग (वैदिक काल) मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णो का आचार और ज्ञान एक समान था, सब एक ही ईश्वर के उपासक थे, सब के संस्कार वैदिक मन्त्रों से होते थे और वर्ण धर्म भिन्न होने पर भी सब एक ही वैदिक धर्म के मानने वाले थे।

इन प्रमाणों से भी यही विदित होता है कि वर्ण आचार मूलक नहीं है।

पीछे उद्धृत किये गए यजुर्वेद अध्याय ३० मन्त्र ५ के अनुसार वर्ण व्यवस्था समाज निर्माण का मुख्य अंग है क्योंकि उसमे पढाने, प्रचार करने, रक्षा और राज्य प्रबन्ध करने, व्यापार तथा शिल्पकारी आदि श्रमसाध्य कार्यों के करने के लिए ब्राह्मण आदि चारों वर्णों (पेशावरों) को शिक्षा द्वारा दूसरे जन्म से उत्पन्न करने का राजा को आदेश किया गया है। और यह सब

काम उनकी आजीविका तथा लौकिक व्यवहार सिद्धि के कार्य हैं आचार नहीं हैं। और कोई आचार सम्पन्न मनुष्य भी इन कार्यों को उस समय तक सफलता पूर्वक नहीं कर सकता जब तक कि इन कार्यों के करने की शिक्षा प्राप्त न करे। इससे भी स्पष्ट है कि वर्ण आचार-मूलक नहीं हैं। यदि इसके विरुद्ध वर्णव्यवस्था को आचार पर निर्धारित मानेंगे तो वर्णों की उत्तम, मध्यम, निकृष्ट तथा पतित चार श्रेणियां माननी पड़ेंगी। जैसा कि भविष्य पुराण के इस श्लोक में मानी गई हैं:—

सद्गुणो ब्राह्मणोवर्णः क्षत्रियस्य रजोगुणः।
तमोगुणास्तथा वैश्यः गुणसाम्यात् शूद्रता॥ भविष्य पु० ३।४।२३"

ऐसा मानने से वर्णों में ऊँच नीच, छूत अछूत, श्रेष्ठ निकृष्ट आदि का भाव पैदा होकर परस्पर घृणा और द्वेष बढ़ेगा। अतः इससे समाज का संगठन नहीं हो सकता, अपितु समाज खण्ड २ हो जायगा जैसा कि आजकल हो रहा है। इसलिए आचार से वर्णभेद का मानना वेद तथा समाज निर्माण सिद्धांत के विरुद्ध और घातक है।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था की आयोजना को आचारमूलक मानना उसके वास्तविक उद्देश्य—(कामों को बाँट कर करना, योग्य मनुष्यों के हाथ से काम कराना, सबको काम का मिलना और सब की आजीविका का प्रबन्ध होना) को निरर्थक बनाना है। क्योंकि उक्त उद्देश्य की पूर्ति का कारण आचार नहीं बल्कि मनुष्यों का परस्पर सहयोगी बन कर वर्णों के कार्यों की दीक्षा प्राप्त

परके अ.ने ? कार्यों को सफलतापूर्वक करना है।

मनुस्मृति अध्याय १ श्लोक ८८ से ९१ तक मे तीनो वर्ण अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य के आचार सम्बन्धी धर्म, वेद पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना एक समान बतलाए हैं। परन्तु आजीविका सम्बन्धी काम ब्राह्मण के वेद पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना, क्षत्रिय का रक्षा करना तथा वैश्य का व्यापार करना तीनों वर्णो के भिन्न ? काम बतलाए हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचार वर्णभेद का कारण नहीं है बल्कि आजीविका सम्बन्धी कर्म ही वर्णभेद का कारण है।

ऋषि दयानन्द जी महाराज ने भी मनुष्य मात्र का धर्म एक ही माना है, जैसे ' क्योंकि उस समय सर्व भूगोल मे वेदोक्त एक मत था, उसी में सब की निष्ठा थी और एक दूसरे का सुख दुख हानि लाभ आपस मे अपने समान समझते थे तभी भूगोल मे सुख था।"

(सत्यार्थप्रकाश दशम समुल्लास के अन्त मे)

'प्रश्न—आप सब का खण्डन करते ही आते हो, परन्तु अपने २ धर्म मे सब अच्छे हैं। खण्डन किसी का न करना चाहिए। जो करते हो तो आप उनसे विशेष क्या बतलाते हो ?

(उत्तर)—धर्म सब का एक होता है या अनेक, जो कहो अनेक होते हैं तो एक दूसरे से विरुद्ध होते हैं या अविरुद्ध, जो कहो कि विरुद्ध होते हैं तो एक के बिना दूसरा धर्म नहीं हो सकता, और जो कहो कि अविरुद्ध है तो पृथक ? होना व्यर्थ है

इसलिए धर्म और अधर्म एक ही है अनेक नहीं यह हम विशेष कहते हैं" आदि।

(एकादश समुल्लास ब्राह्म-समाज के विषय के अन्तर्गत)

उक्त कारणों से विदित है कि वैदिक वर्ण व्यवस्था आचार मूलक नहीं।

वर्णों को आचार सिद्ध मानने का कारण

स्मृतियों, पुराणों तथा महाभारत आदि ग्रंथों में जहा जन्म से वर्ण माना गया है वहा उनमें जन्ममूलक ब्राह्मणत्व तथा शूद्रत्व का बल पूर्वक खण्डन और आचार मूलक ब्राह्मणत्व और शूद्रत्व का मण्डन भी किया गया है। उदाहरण के लिए नीचे कुछ प्रमाण दिए जाते हैं :—

न योनिना विसंस्कारो न श्रुतन च सन्ततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमव तु कारणम् ५०
वृत्तोस्थितश्च शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्व स गच्छति॥

५१॥ म० भ०अनु०पर्व० अ०१४३॥

अर्थात्—ब्राह्मणी के गर्भ में उत्पन्न होना, संस्कार, वेद श्रवण, ब्राह्मण पिता की सन्तान होना यह ब्राह्मणत्व के कारण नहीं है बल्कि केवल सदाचार से ही मनुष्य ब्राह्मण बनाता है। (यही श्लोक ब्रह्म पुराण में भी आया है) और सदाचार से शूद्र भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है।

न कुलेन न जात्या वा क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत्।

चाण्डालोऽपि हि वृत्तस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर ॥ म०भ०अनु०प०

अ०२२६ १४॥

अर्थात्—कोई मनुष्य कुल, जाति और क्रिया के कारण ब्राह्मण नहीं हो सकता। यदि चाण्डाल भी सदाचारी है तो वह ब्राह्मण होता है।

ब्राह्मणाः यतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु।

दाम्भिको दुष्कृत. प्राज्ञ शूद्रेण सदृशो भवेत् ॥१३

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सत्यता स्थित. ॥

तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद्द्विजः ॥

म०भा०व०प०अ०२१६।१४

अर्थात्—जो ब्राह्मण दुष्ट कर्म करता है, जो दम्भी पापी और अज्ञानी है उसे शूद्र समझना चाहिए और जो शूद्र दम सत्य और धर्म स्थित है उसे मैं ब्राह्मण मानता हूँ।

शूद्रोऽपि ज्ञानसम्पन्नो ब्राह्मणादधिको भवेत्।

ब्राह्मणो विगताचार शूद्रा प्रत्यवरो भवेत् ॥

भविष्य म०पु०अ० ४४।३३॥

अर्थात्—शूद्र यदि ज्ञान सम्पन्न हो तो वह ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ है और आचारभ्रष्ट ब्राह्मण शूद्र से भी नीच है।

पूर्वोक्त प्रकार के खण्डन मण्डन से यह ज्ञात होता है कि सम्भवतः जन्म के ब्राह्मणों को आचारहीन देख कर (जिनका आचार वेदानुकूल होना चाहिए था) तथा शूद्रों (पौराणिक

शूद्रों, दस्युओं) को आचार-सम्पन्न देख कर जन्म मूलक ब्राह्मण त्व और शूद्रत्व के खण्डन के लिए ही वर्णों को आचार सिद्ध मान लिया हो। परन्तु वर्णों का जन्म मूलक अथवा आचार मूलक मानना दोनों ही वेद विरुद्ध हैं, क्योंकि इनसे वैदिक वर्ण-व्यवस्था की आयोजना का उद्देश्य (जो कि पहिले प्रमाण पूर्वक लिखा जा चुका है) पूरा नहीं हो सकता।

एक कारण यह भी हो सकता है कि ब्राह्मण का वर्ण धर्म (व्यवसायिक धर्म) वेदादि शास्त्र पढाने तथा उपदेश करने का होने के कारण उनका वेदों से विशेष सम्बन्ध रहने के प्रभाव से उनके आचार विचार दूसरे वर्णों से उत्तम रहे हों। क्योंकि वेदादि शास्त्रों का यह आदेश है कि गुरु अथवा पढाने वाला आचार सम्पन्न हो ताकि पढने वाले विद्यार्थियों पर भी उसका अच्छा प्रभाव पड़े। संस्कृत साहित्य में आचार्य कहते ही उसे हैं जो स्वयं आचार सम्पन्न हो और शिष्यों को आचार सम्पन्न बना सके। और ब्राह्मण के अतिरिक्त दूसरे वर्णों को अपने २ वर्णात्मक कामों में संलग्न रहने से वेदों का विशेष अभ्यास न रहा हो तथा सन्ततिवान होने के कारण वह क्रमश: आचारहीन होगये हों और उनके इस प्रकार के आचार भेद को देख कर सब को सदाचारी बनाने के लिए वर्णव्यवस्था को आचारमूलक मान लिया हो।

यह भी सम्भव ही नहीं वरिक लगभग निश्चित है जो कि पूर्व उद्धृत किए गए प्रमाणों को विचार पूर्वक देखने से प्रतीत होता

है कि उक्त श्लोकों में दर्शाया गया आचार मूलक भेद ब्राह्मण और शूद्र वर्ण का भेद नहीं बल्कि वह भेद वास्तव में वेद के आर्य और दस्यु का ही भेद है। केवल वर्णन में आर्य के स्थान पर ब्राह्मण और दस्यु शब्द के स्थान पर शूद्र शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि प्रायः यह आचार भेद महाभारत आदि ग्रन्थों में ब्राह्मण और शूद्र में ही दिखाया गया है। और मेरे इस कथन का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि मदरास प्रान्त में इस समय भी ब्राह्मणों को आयर (आर्य) और ब्राह्मणेतर (Non Brahman) को नायर (अनार्य) कहा जाता है। ब्राह्मणों को आयर कहना तो सार्थक ही है परन्तु ब्राह्मणेतर (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) को नायर (अनार्य) तथा शूद्र कहना वेद-विरुद्ध है। हाँ, यदि पौराणिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो पौराणिक शूद्र को अनार्य कहना वेद विरुद्ध नहीं रहता, क्योंकि वेद का दस्यु ही पौराणिक का शूद्र है जैसा कि पीछे सिद्ध किया जा चुका है। अतः वर्णों को आचार मूलक मानने का मूल कारण वेद मूलक आर्य और दस्यु का भेद है जिसको वेद ने भी आचार मूलक वर्णन किया है इसलिए वर्णों को आचार मूलक मानना भ्रान्ति है क्योंकि वेद ने वर्णों को कार्य मूलक माना है।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था कार्यमूलक है।

पूर्वोक्त वर्णन में उद्धृत किए गए वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों का सार अथवा निष्कर्ष यही निकलता है कि वर्ण कार्य मूलक हैं। यथा—

यजुर्वेद अध्याय ३० मन्त्र ५ में राजा को आदेश किया गया है कि सब प्रकार की विद्याओं को पढ़ाने और प्रचार अथवा प्रसार करने के लिए ब्राह्मण को, रक्षा तथा राज्य प्रबन्ध के लिए क्षत्रिय को, व्यापार के लिए वैश्य को और सब प्रकार के शिल्पी तथा श्रमसाध्य कार्यों का सम्पादन करने के लिए शूद्र को (शिक्षा द्वारा) उत्पन्न करो। जिसका अभिप्राय स्पष्ट है कि लौकिक व्यवहार सिद्धि के साधक उक्त कार्यों को सम्पादित करने के लिए ही ब्राह्मण आदि चतुर्वर्ण (व्यवसायिक कार्य कर्त्ताओं) की आयोजना की गई है। अतः वर्ण कार्य मूलक हैं।

अथर्ववेद अध्याय १६ सूक्त ६ मन्त्र ६ तथा यजुर्वेद ३१।११ में ब्राह्मणादि चारों वर्णों को मनुष्य शरीर की, मुख बाहु आदि कर्म इन्द्रियों से उपमा दी गई है। इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि जिस प्रकार मुख आदि शारीरिक अवयव अध्ययन अध्यापन आदि मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने वाले कार्यों के करने वाले साधन) है उसी प्रकार ब्राह्मणादि वर्ण भी अध्ययन अध्यापन आदि कार्यों के साधक हैं। इससे भी वर्ण कार्य मूलक ही सिद्ध होते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की ११-१२-१३ कण्डिका मे स्पष्ट वर्णन है कि पहिले केवल एक ही ब्राह्मण वर्ण था। वह मानव जाति के लौकिक व्यवहारों की सिद्धि में समर्थन हुआ, इसलिए उसने व्यवहार सिद्धि के हेतु कार्यों को सम्पादन करने के लिए, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण का क्रमशः निर्माण किया। अर्थात् पहिले क्षत्रिय वर्ण को बनाया तब भी व्यवहार सिद्धि न हुई, फिर वैश्य को बनाया तब भी मनोरथ की सिद्धि न हुई। तीनों वर्णों के मिल जाने पर भी जब लौकिक व्यवहारों की सिद्धि न हो सकी तब शूद्र वर्ण का निर्माण किया। अभिप्राय यह कि अपनी २ रुचि और योग्यता के अनुसार काम को परस्पर बाँट लिया।

मनु० अ० १ श्लोक ३१ तथा ८७ में भी लिखा है कि वर्ण-व्यवस्था की स्थापना लोकवृद्धि और सृष्टि की रक्षा के लिये हुई है।

महाभारत शांति पर्व अध्याय १८८ श्लोक १० और भागवत ८।१४।४ तथा भविष्य महापुराण में भी वर्णों को कार्य-मूलक ही माना है।

मनुस्मृति अध्याय १० श्लोक ७५ से ८० तक मे वर्णन है कि वेद का पढ़ना, यज्ञ करना और दान देना ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों वर्णों का एक समान धर्म है। पढ़ाना यज्ञ कराना और दान लेना ब्राह्मण का; शस्त्रास्त्र धारण करके रक्षा करना क्षत्रिय का और व्यापार करना वैश्य का कार्य आजीविका

के लिए है। इससे भी यही विदित होता है कि धर्म अथवा आचार तीनों वर्णों का एक समान कर्तव्य है। इसलिए यह (आचार) वर्ण भेद का कारण नहीं है बल्कि वर्णभेद का कारण उनके यह कार्य हैं जो कि वे आजीविका के लिए करते हैं। इससे भी यही निश्चित होता है कि वर्णों का परस्पर भेद कार्य मूलक है।

वर्ण में परस्पर जन्म मूलक कोई भी जाति गत भेद (जैसे गाय और घोड़े का है) नहीं है बल्कि एक ही मानव जाति के अन्तर्गत जीविका के सिद्ध करने वाले कार्यों के भेद से ब्राह्मणादि चतुवर्ण का भेद है। इसलिए ब्राह्मणादि चारों वर्ण जन्म सिद्ध जातियाँ नहीं हैं बल्कि कार्य मूलक वर्ण हैं।

वर्णों के कार्य मूलक तथा ब्राह्मणादि आदि चारों वर्णों का व्यवसायिक (Professional) होना इस बात से भी निश्चित है कि यजुर्वेद ३०।५ (जिसमें ब्राह्मण आदि वर्णों का वर्णन है) लेकर आगे सारे अध्याय में प्राय व्यवसायिक लोगों का ही वर्णन है।

वर्णो वृणुते का अभिप्राय भी यही है कि जो मनुष्य आजीविका की सिद्धि के लिए लौकिक व्यवहार सिद्धि के जिस कार्य को स्वीकार करता है उसी के अनुसार उसका वर्ण होता है।

गुण कर्म स्वभाव वर्ण से निश्चित करने का अभिप्राय भी कार्य मूलक गुण कर्म से है। अर्थात् जिस में जिस वर्ण के करने का गुण हो और उस काम को रुचि पूर्वक करके अपनी जीविका उपार्जन करता हो वही उसका वर्ण है।

ऋषि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के ८ वें समुल्लास में ऋग्वेद १।५१।८ के आधार पर आचार से मानव जाति के आर्य और दस्यु दो ही भेद बतलाए हैं और ब्राह्मण आदि चारों भेद जो आर्यों के माने हैं, और वह कार्य मूलक ही हो सकते हैं। क्योंकि आचार मूलक मानने से उत्तम मध्यम निकृष्ट तथा पतित चार भेद आर्यों के मानने पड़ेंगे। ऐसा मानना वेद-विरुद्ध है। इससे भी यही विदित होता है कि ऋषि दयानन्द जी वर्ण भेद को कार्य मूलक ही मानते थे। इसलिए सत्यार्थप्रकाश में जहाँ कहीं किसी और ग्रन्थ प्रमाण से वर्णों का आचार मूलक वर्णन आता है उन्हीं ग्रन्थों की सम्मति समझनी चाहिए, ऋषि दयानन्द की नहीं। क्योंकि ऋषि दयानन्द वेद को ही परम प्रमाण मानते थे इसलिए ऋषि दयानन्द की सम्मति वही हो सकती है जो वेदानुकूल हो। यदि अन्य ग्रंथों के मत को भी ऋषि दयानन्द जी का मत मानेंगे तो ऋषि के मत में विरोध आएगा।

ऋषि दयानन्द जी ने अपने वेद भाष्य में यजुर्वेद अध्याय ३० के ५वें मन्त्र के यह अर्थ किये हैं:—

हे राजन्! वेद और ईश्वर के प्रचार के लिये ब्राह्मण अर्थात् वेद और ईश्वर के जानने वाले को, राज्य-प्रबन्ध तथा प्रजा की रक्षा के लिए राजपूत (क्षत्रिय) को, व्यापार के लिए वैश्य को और कठिन काम करने के लिए शूद्र को उत्पन्न कर।

इससे विदित है कि ऋषि दयानन्द, वैदिक वर्णों का निर्माण

के लिए है। इससे भी यही विदित होता है कि धर्म अथवा आचार तीनों वर्णों का एक समान कर्तव्य है। इसलिए यह (आचार) वर्ण भेद का कारण नहीं है बल्कि वर्णभेद का कारण उनके वह कार्य हैं जो कि वे आजीविका के लिए करते हैं। इससे भी यही निश्चित होता है कि वर्णों का परस्पर भेद कार्य मूलक है।

वर्ण में परस्पर जन्म मूलक कोई भी जाति गत भेद (जैसे गाय और घोडे का है) नहीं है बल्कि एक ही मानव जाति के अन्तर्गत जीविका के सिद्ध करने वाले कार्यों के भेद से ब्राह्मणादि चतुवर्ण का भेद है। इसलिए ब्राह्मणादि चारों वर्ण जन्म सिद्ध जातियाँ नहीं हैं बल्कि कार्य मूलक वर्ण हैं।

वर्णो के कार्य मूलक तथा ब्राह्मणादि आदि चारों वर्णो का व्यवसायिक (Professional) होना इस बात से भी निश्चित है कि यजुर्वेद ३० । ५ (जिसमें ब्राह्मण आदि वर्णों का वर्णन है) लेकर आगे सारे अध्याय में प्राय व्यवसायिक लोगों का ही वर्णन है।

वर्णो वृणुते का अभिप्राय भी यही है कि जो मनुष्य आजीविका की सिद्धि के लिए लौकिक व्यवहार सिद्धि के जिस कार्य को स्वीकार करता है उसी के अनुसार उसका वर्ण होता है।

गुण कर्म स्वभाव वर्ण से निश्चित करने का अभिप्राय भी कार्य मूलक गुण कर्म से है। अर्थात् जिस में जिस वर्ण के करने का गुण हो और उस काम को रुचि पूर्वक करके अपनी जीविका उपार्जन करता हो वही उसका वर्ण है।

ऋषि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के ८ वें समुल्लास मे ऋग्वेद १।५१।८ के आधार पर आचार से मानव जाति के आर्य और दस्यु दो ही भेद बतलाए हैं और ब्राह्मण आदि चारों भेद जो आर्यों के माने हैं, और वह कार्य मूलक ही हो सकते हैं। क्योंकि आचार मूलक मानने से उत्तम मध्यम निकृष्ट तथा पतित चार भेद आर्यों के मानने पड़ेंगे। ऐसा मानना वेद-विरुद्ध है। इससे भी यही विदित होता है कि ऋषि दयानन्द जी वर्ण भेद को कार्य मूलक ही मानते थे। इसलिए सत्यार्थप्रकाश मे जहाँ कही किसी और ग्रन्थ प्रमाण से वर्णों का आचार मूलक वर्णन आता है उन्हीं ग्रन्थों की सम्मति समझनी चाहिए, ऋषि दयानन्द की नहीं। क्योंकि ऋषि दयानन्द वेद को ही परम प्रमाण मानते थे इसलिए ऋषि दयानन्द की सम्मति वही हो सकती है जो वेदानुकूल हो। यदि अन्य ग्रंथों के मत को भी ऋषि दयानन्द जी का मत मानेंगे तो ऋषि के मत में विरोध आएगा।

ऋषि दयानन्द जी ने अपने वेद भाष्य मे यजुर्वेद अध्याय ३० के ५वें मन्त्र के यह अर्थ किये हैं :—

हे राजन्! वेद और ईश्वर के प्रचार के लिये ब्राह्मण अर्थात् वेद और ईश्वर के जानने वाले को, राज्य-प्रबन्ध तथा प्रजा की रक्षा के लिए राजपूत (क्षत्रिय) को, व्यापार के लिए वैश्य को और कठिन काम करने के लिए शूद्र को उत्पन्न कर।

इससे विदित है कि ऋषि दयानन्द वैदिक वर्णों का निर्माण

लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए ही मानते हैं ।

इस समय हिन्दू संसार में वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी अनेकों भ्रम फैले हुए हैं । बहुत से हिन्दू भाई इसे जन्म मूलक मानते हैं और कुछ आचार मूलक भी । इसी से यह जात पात और छूतछात का कारण भी बन गई है । वर्ण व्यवस्था के उक्त भ्रांत रूप से हिन्दू समाज खण्ड खण्ड हो गया है और उसे अत्यन्त हानि पहुंच रही है । वस्तुत. वैदिक वर्ण व्यवस्था समाज निर्माण के अन्तर्गत अत्यन्त उपयोगी योजना है जिसका वास्तविक रूप न जानने के कारण आजकल वर्ण-व्यवस्था को ही त्यागने की चेष्टा की जा रही है ।

अत पाठकों से अन्तिम निवेदन है कि वैदिक वर्ण-व्यवस्था के इस वास्तविक रूप को पढ़ कर विचारेंगे और आशा है कि उसके अनुकूल क्रियात्मक समाज निर्माण करने का भरसक प्रयत्न करके भारतीय राष्ट्र को सगठित करेंगे ।

प्रिय पाठक वृन्द ! वेद आदि प्राचीन शास्त्रों के दीर्घ कालीन स्वाध्याय और मनन से वर्ण व्यवस्था की आयोजना का जो वास्तविक रूप और उद्देश्य तथा वर्णों की स्थिति है, मैंने उसका प्रमाण पूर्वक वर्णन इस पुस्तक में कर दिया है । आशा है कि इसको विचार पूर्वक पढ़ने से उन भाइयों की भूल दूर हो जाएगी जो वर्णों का जन्ममूलक अथवा आचार मूलक मानते और अपने उस मन्तव्य को वेदादि शास्त्रों के अनुकूल समझते हैं । और वर्ण तथा जात पात को पर्याय मानते हैं । यह भी सम्भावना

है कि वह राष्ट्र हित से प्रेरित होकर जन्म मूलक ऊँच-नीच छूताछूत तथा आधुनिक मिथ्या जात-पात के द्वेशात्मक भेद भाव और व्यवहार को त्याग कर, क्रियात्मक रूप से, न केवल इस भेद भाव को ही दूर कर देंगे जो इस समय द्विज कहलाने वालों के अपने अन्दर मौजूद है, अपितु अत्यन्त उपयोगी अंग, (शूद्र) भाइयों से भी समानता का व्यवहार करके छूताछूत और ऊँच नीच के भ्रमात्मक रोग से नीरोग होकर उनके हितकारी तथा सहयोगी वन कर संगठित हो जाएँगे।

वह वेदादि सत्य शास्त्र विरुद्ध इस मिथ्या मन्तव्य को भी छोड़ देंगे कि वह आर्य तथा सवर्ण हैं और शूद्र अनार्य तथा अवर्ण। क्योंकि मनुस्मृति आदि धर्म शास्त्रों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आर्यों के ही चार वर्ण माने हैं। इसलिए शूद्र भी उन जैसे ही आर्य और सवर्ण हैं। यदि शूद्रों को अवर्ण मानेंगे तो वर्ण तीन ही रह जायेंगे किन्तु धर्म शास्त्रों में वर्ण चार माने हैं तीन नहीं।

श्रमजीवी बन्धु भी जो कि अन्य हिन्दुओं की भांति ही अपनी भिन्न २ अनेक श्रेणियों में विभक्त हुए २ हैं वह भी अपने जन्ममूलक भेद भाव को मिटाकर, द्विज कहलाने वाले भाइयों के किए हुए कुव्यवहार को भूल कर (क्योंकि वह इस कुव्यवहार के आरम्भ करने वाले नहीं हैं, वह तो पिछली लकीर पर ही चलते आ रहे हैं) परस्पर केसद्व्यवहार, धर्मानुकूल

लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए ही मानते हैं ।

इस समय हिन्दू संसार में वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी अनेकों भ्रम फैले हुए हैं । बहुत से हिन्दू भाई इसे जन्म मूलक मानते हैं और कुछ आचार मूलक भी । इसी से यह जात पात और छूताछूत का कारण भी बन गई है । वर्ण व्यवस्था के उक्त भ्रांत रूप से हिन्दू समाज खण्ड-खण्ड हो गया है और उसे अत्यन्त हानि पहुंच रही है । वस्तुतः वैदिक वर्ण व्यवस्था समाज निर्माण के अन्तर्गत अत्यन्त उपयोगी योजना है जिसका वास्तविक रूप न जानने के कारण आजकल वर्ण-व्यवस्था को ही त्यागने की चेष्टा की जा रही है ।

अत पाठकों से अन्तिम निवेदन है कि वैदिक वर्ण-व्यवस्था के इस वास्तविक रूप को पढ़ कर विचारेंगे और आशा है कि उसके अनुकूल क्रियात्मक समाज निर्माण करने का भरसक प्रयत्न करके भारतीय राष्ट्र को संगठित करेंगे ।

प्रिय पाठक वृन्द ! वेद आदि प्राचीन शास्त्रों के दीर्घ कालीन स्वाध्याय और मनन से वर्ण-व्यवस्था की आयोजना का जो वास्तविक रूप और उद्देश्य तथा वर्णों की स्थिति है, मैंने उनका प्रमाण पूर्वक वर्णन इस पुस्तक में कर दिया है । आशा है कि इसको विचार पूर्वक पढ़ने से उन भाइयों की भूल दूर हो जाएगी जो वर्णों का जन्ममूलक अथवा आचार मूलक मानते और अपने उस मन्तव्य को वेदादि शास्त्रों के अनुकूल समझते हैं । और वर्ण तथा जात पात को पर्याय मानते हैं । यह भी सम्भावना

है कि वह राष्ट्र हित से प्रेरित होकर जन्म मूलक ऊँच-नीच छूताछूत तथा आधुनिक मिथ्या जात-पात के द्वेषात्मक भेद भाव और व्यवहार को त्याग कर, क्रियात्मक रूप से, न केवल इस भेद भाव को ही दूर कर देंगे जो इस समय द्विज कहलाने वालों के अपने अन्दर मौजूद है, अपितु अत्यन्त उपयोगी अंग, (शूद्र) भाइयों से भी समानता का व्यवहार करके छूताछूत और ऊँच नीच के भ्रमात्मक रोग से नीरोग होकर उनके हितकारी तथा सहयोगी बन कर संगठित हो जाएँगे।

वह वेदादि सत्य शास्त्र विरुद्ध इस मिथ्या मन्तव्य को भी छोड़ देंगे कि वह आर्य तथा सवर्ण हैं और शूद्र अनार्य तथा अवर्ण। क्योंकि मनुस्मृति आदि धर्म शास्त्रों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आर्यों के ही चार वर्ण माने हैं। इसलिए शूद्र भी उन जैसे ही आर्य और सवर्ण हैं। यदि शूद्रों को अवर्ण मानेंगे तो वर्ण तीन ही रह जायेंगे किन्तु धर्म शास्त्रों में वर्ण चार माने हैं तीन नहीं।

श्रमजीवी बन्धु भी जो कि अन्य हिन्दुओं की भांति ही अपनी भिन्न २ अनेक श्रेणियों में विभक्त हुए २ हैं वह भी अपने जन्ममूलक भेद भाव को मिटाकर, द्विज कहलाने वाले भाइयों के किए हुए कुव्यवहार को भूल कर (क्योंकि वह इस कुव्यवहार के आरम्भ करने वाले नहीं हैं, वह तो पिछली लकीर पर ही चलते आ रहे हैं) परस्पर केसद्व्यवहार, धर्मानुकूल

खान-पान और स्वच्छता के पाबन्द होकर परस्पर प्रेमपूर्वक गले मिलने का यत्न करेंगे।

उनकी यह मांग कि सवर्ण कहलाने वाले हिन्दू उनके साथ खान-पान और विवाह अथवा रोटी बेटी का व्यवहार जारी करें, समय की मांग नहीं अपितु आर्यों के प्राचीन इतिहास के भी अनुकूल है जैसा कि इस पुस्तक में दर्शाया गया है। परन्तु उन्हें इस सच्चाई को नहीं भूलना चाहिए कि उनके अपने अन्दर भी यह ऊँच नीच, तथा जात पात का भ्रमात्मक रोग सवर्ण कहलाने वाले हिंदुओं जैसा ही फैला हुआ है। दूसरे शब्दों में ब्राह्मण से लेकर शूद्रों तक सारे हिन्दुओं के अन्दर यह जन्म मूलक ऊँच-नीच तथा जात-पात का रोग व्याप्त हुआ है। अर्थात् इस समय न केवल यह कि पहले तीन वर्णों का शूद्रों के साथ ही रोटी बेटी का व्यवहार नहीं होता बल्कि प्रत्येक वर्ण का दूसरे वर्ण से प्रत्येक प्रांत का दूसरे प्रांत के अपने ही वर्ण से तथा एक ही वर्ण के अन्दर जन्म मूलक जात-पात के भेद के कारण आपस में खान-पान और विवाह सम्बन्ध का व्यवहार नहीं होता। यह कहना भी अत्युक्ति नहीं कि पहले तीन वर्णों की अपेक्षा शूद्र श्रेणियों के अन्दर जन्म मूलक जात-पात का भेद अत्यधिक और वह भी आपस में खान-पान और विवाह सम्बन्ध नहीं करते।

भारत के भिन्न २ प्रान्तों में भी छूत अछूत और खान पान आदि व्यवहार में बहुत भेद है। पंजाब में ब्राह्मण भी धोबी

आदि श्रमजीवियों के घर का भोजन खा लेते हैं। कहारों की दुकानों से सभी वर्णों के व्यक्ति बिना आनाकानी भोजन करते हैं। संयुक्त प्रांत, बिहार, बंगाल, गुजरात में अधिक से अधिक प्रतिबन्ध लगते चले गए हैं। मद्रास प्रांत में तो छूत अछूत यहाँ तक बढ़ गई है कि हिन्दुओं की भिन्न २ श्रेणियों से बने हुए ईसाई भी ब्राह्मण ईसाई और अछूत ईसाई कहलाते हैं। और वह आपस में रोटी बेटी का व्यवहार नहीं करते। मुसलमानों में भी सय्यद, राजपूत, जाट, गूजर, लुहार, चमार और मेहतर आदियों में जात-पात तथा ऊंच-नीच का भेद बना हुआ है वह भी अपनी ही जात बिरादरी में विवाह सम्बन्ध करते हैं।

वर्तमान काल में सब लिखे पढ़े सभ्य श्रेणी के लोग प्रायः शिक्षित वर वधु के साथ और यथासम्भव अपने समान आर्थिक अवस्था रखने वाले सभ्य घरानों में ही विवाह करते हैं ताकि उनकी कन्याओं का जीवन निर्वाह अच्छी प्रकार हो सके और वह सुखी रहें।

प्राचीन भारत की स्वयंवर विवाह मर्य्यादा के विकृत रूप में इस समय शिक्षित युवक और युवतियाँ अपने विवाह के लिए अपने साथी स्वयं चुनते हैं। उनके शिक्षित माता पिता भी उनकी अनुमति के बिना उनका विवाह नहीं करते। क्योंकि वेद आदि सत्य शास्त्रों तथा सारे सभ्य संसार का यही मत है कि जिन्होंने आयु भर मिल कर जीवन निर्वाह करना है उन्हें स्वयं अपना साथी चुनने का अधिकार होना चाहिए। इत्यादि २।

सबसे बड़ी रुकावट, सवर्ण कहलाने वालों और दलित बन्धुओं की सन्तानों का विवाह सम्बन्ध, और आम रीति पर खान-पान होने में इस समय यह है कि दलित हिन्दू श्रेणियां शिक्षा, आर्थिक अवस्था तथा शौचाचार की दृष्टि से बहुत पीछे हैं। और कुछ एक तो अभी तक गोमांस भी खाती हैं। ऐसी अवस्था में सवर्ण कहलाने वाले सर्व साधारण हिन्दुओं से दलित श्रेणियों से आम तौर पर खान पान तथा विवाह सम्बन्ध की आशा क्योंकर की जा सकती है।

अतः इनके जोड़ अथवा सामाजिक सम्बन्ध जोड़ने के लिए जहां हिन्दू नेताओं को हिन्दुओं के मस्तिष्क से पदायशी ऊंच-नीच तथा छूत-छात के संस्कार निकालने होंगे, वहां दलित नेताओं को सुधार प्रिय प्रतिष्ठित हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त करके दलित समुदाय की शिक्षा, शौचाचार तथा आर्थिक अवस्था को भी उन्नत करना होगा। क्योंकि जब तक भेद भाव के कारण विद्यमान हैं, तब तक सामाजिक सम्बन्ध की सम्भावना कैसे हो सकती है।

जो दलित बन्धु यह आशा करते हैं कि यदि वह मत परिवर्तन कर लेंगे अथवा मुसलमान हो जायेंगे तब उन्हें सारे मुसलमानों से खान-पान और विवाह सम्बन्ध आदि के अधिकार प्राप्त हो जायेंगे, तो यह उनकी भूल है। क्योंकि पिछला इतिहास बतलाता है कि मुसलमानों के शासनकाल में राजपूत, गूजर, जाट, लुहार, निजार, चमार आदि आदि, जिस २ हिन्दू

श्रेणी के लोग मुसलमान बनाए गये थे; सैकड़ों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी वह सब (अपवाद को छोड़ कर) अपनी २ बिरादरियों में ही अपनी सन्तानों का विवाह करते हैं। जैसा कि वह हिन्दू होते हुए करते थे। उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अतः यह निश्चित है कि मत परिवर्तन से भी उनका सामाजिक दर्जा अथवा लैवल ऊंचा नहीं हो जाएगा। बल्कि वैसा ही रहेगा जैसा कि सैकड़ों वर्षों से मुसलमान बने हुए अशिक्षित राजपूत, गूजर, जाट, लुहार, चमार आदि २ का है। ईश्वर कृपा से विदेशी राज्य गया। मुसलमानों ने भी हमारे भारतवर्ष में से अलग हिस्सा ले लिया जिसका हमें दुःख है, अब तो भारत में सुधार प्रिय, दलित हितैषी भारतीयों का राज्य होने से समय भी अनुकूल है। इसलिए मत परिवर्तन आदि, कुत्सित विचारों को छोड़ कर, आर्य-हिन्दू रहते हुए ही अपने द्विज कहलाने वाले हिन्दू भाइयों से सब अधिकार लेने चाहिए।

मेरी सम्मति में सारे हिन्दुओं को फिर से परस्पर सामाजिक सम्बन्ध उत्पन्न करने के लिए निम्नलिखित साधनों को प्रयोग में लाना चाहिए।

सबसे पूर्व जन्म-सिद्ध मिथ्या जात-पात का मूलोच्छेद करना चाहिए। उसके लिए भारतीय सरकार तथा सारी प्रान्तीय हकूमतों से निवेदन करना चाहिए कि वह सरकारी महकमों तथा अदालतों आदि २ में जहां २ पर व्यक्तियों की जात अथवा कौम लिखने की जो रीति प्रचलित है उसको बन्द कर दिया जाए। क्योंकि यह

जात-पात को दृढ़ बनाने, और भेद भाव बढ़ाने वाली प्रथा है। भारत के प्रसिद्ध नेताओं तथा अन्य सभी सुधार प्रिय सज्जनों को जात-पात के सूचक चिन्ह अपने नामों के साथ लगाना छोड़ देना चाहिए। उनको इस शुभ कार्य के करने से दूसरे लोग भी उनका अनुकरण करने लग जायेंगे। इससे राष्ट्रीय संगठन दृढ़ और देश का कल्याण होगा। आर्यसमाजी तथा हिन्दू सज्जनों जो अपने नामों के साथ शर्मा, वर्मा, गुप्ता आदि चिन्हों (लेबलों) को लगाते हैं, उन्हें लगाना छोड़ दें। क्योंकि यह जन्म मूलक वर्णों के चिन्ह हैं। इनसे जन्ममूलक वर्णों की पुष्टि होती है जो कि वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। और इन चिन्हों को लगाने से, जन्ममूलक वर्ण के विज्ञापन के अतिरिक्त कोई लाभ भी नहीं है। जो व्यक्ति जिस वर्ण का काम करेगा। लोग स्वयं उसको उस वर्ण का समझने लग जायेंगे।

मैं ऋषि दयानन्द जी के अनुयायियों से विशेषकर और अन्य सुधारप्रिय हिन्दू सज्जनों से सामान्यतः निवेदन करूंगा कि कल्पित जात-पात को तोड़ कर विवाह करने में जो बड़ी भारी रुकावट थी, वह तो अन्तर्जातीय विवाह बिल के पास होने पर दूर हो गई है। इसलिए उन्हें कल्पित जात पात के बन्धनों की परवाह न करते हुए आर्य हिन्दू राष्ट्र के अन्दर जहां कहीं भी वर-वधु अनुकूल मिलें वहां पर ही वह अपनी सन्तानों का विवाह करें।

...मैं दलित हिन्दू श्रेणियों के उन नेताओं से विशेषकर, निवेदन करता हूँ जो कि सवर्ण कहलाने वाले हिन्दुओं से खान-पान तथा विवाह सम्बन्ध करने की मांग करते हैं, कि वह इसको पहिले अपने घर से, अर्थात् सभी दलित श्रेणियों से क्रियात्मक रूप से आरम्भ कर दें। यदि यह हो जाए तो भी किसी सीमा तक बड़ी भारी मुश्किल का हल हो जाता है। क्योंकि दलित श्रेणियों में भी सवर्ण कहलाने वाले हिन्दुओं की भान्ति जात-पात तथा नीच-ऊंच का रोग भयानक रूप से फैला हुआ है।

मैं शिक्षित दलित बन्धुओं से, विशेषकर उन दलित वर्ग के नेताओं से जो कि एक ओर तो हिन्दुओं से धार्मिक सामाजिक अधिकार मांगते हैं और दूसरी ओर आर्यों को बाहर से आया हुआ और दलित श्रेणियों को भारत के आदिनिवासी बतला कर हिन्दुओं से पृथक राजनैतिक अधिकार मांगते हैं, बड़ी नम्रता से कहूँगा कि वह भारत के आदिनिवासी कहलाना भी छोड़ दें। क्योंकि यह असत्य मन्तव्य (जैसा मैं पीछे सिद्ध कर आया हूँ) भारतीय राष्ट्र में भेद-भाव बढ़ाने तथा फूट डलवाने वाला है। इसके अतिरिक्त आर्यों को विजेता और दलित श्रेणियों को विजित मान कर अपने को आदिनिवासी कहना अपना स्वयं अपमान करना है। अब श्रीयुत जगजीवन राम जी, भारतीय सरकार के श्रम मन्त्री, के इस कथन

के अनुसार कि हम हिन्दू हैं और हिन्दू रहकर ही अपने हिन्दू भाइयों से सब प्रकार के अधिकार लेंगे। उन्हें अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए। इसी में उनका और भारतीय राष्ट्र का कल्याण है।

ओ३म् शम्।

ओ३म्

परिशिष्ट

मैंने अपने प्राक्कथन के अन्त में जाति, वर्ण तथा राष्ट्र शब्दों के प्राचीन अर्थों का दिग्दर्शन करा दिया है, उससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे उक्त शब्द भारत की आधुनिक कल्पित जात-पात आदि के द्योतक नहीं थे। यह भी निश्चित है, कि समय के परिवर्तन के साथ शब्दों के अर्थों में भी परिवर्तन होता चला आया है। अतः आधुनिक संस्कृत और प्रचलित नागरी भाषा में जाति और वर्ण शब्दों के जो अर्थ लिये जाते हैं वेदादि प्राचीन शास्त्रों में आए हुए उन शब्दों के वे अर्थ नहीं लिए जा सकते क्योंकि वेद अत्यन्त प्राचीन सृष्टि के प्रारम्भिक काल की पुस्तकें हैं। वेद को अपौरुषेय मानने वालों के मतानुसार, वेद के सारे शब्द यौगिक व नित्य हैं। उनमें परिवर्तन नहीं होता। परन्तु रूढी शब्द समयानुसार परिवर्तित होते रहते हैं। प्रत्येक कल्प में भगवान् की ओर से उन्हीं शब्दों में मानवीय जगत को लौकिक और पारमार्थिक व्यवहारों की सिद्धि के हेतु रूप ज्ञान और कर्मों का बोध कराया जाता है। वेद को अपौरुषेय मानने वालों के मतानुसार भी वेद मे रूढी शब्द नहीं आ सकते। क्योंकि वह भी संसार के पुस्तकालय मे वेद को सबसे प्राचीन ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। और अत्यन्त प्राचीन काल में रूढिया प्रचलित ही

नहीं हुई थी। अतएव वैदिक शब्दों के अर्थ स्वयं वेदों तथा प्राचीन वैदिक व्याकरण अर्थात् धात्वर्थ या व्युत्पत्ति के अनुसार ही किये जा सकते हैं, इसके विपरीत नहीं। परन्तु मि० म्योर तथा रौथ आदि जिन पाश्चात्य विद्वानों ने इस निर्मूल घटना की कल्पना की है, कि आर्य लोग मध्य एशिया से भारतवर्ष में आए, और उन्होंने भारत के आदिवासियों को युद्ध में जीत कर उन्हें अपना दास बना लिया, उन्होंने अपने इस निराधार पक्ष को वेदों से सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है। क्योंकि वेद का प्रमाण होने पर ही उनकी कल्पना सत्य सिद्ध हो सकती थी। अतः उन्होंने वेद-मन्त्रों में आए "आर्य" "दस्यु" तथा "असुर" आदि शब्दों के आधार पर उनकी भिन्न भिन्न जातियां (रेसेज़) बनाने का प्रयत्न किया है। वे लिखते हैं कि आर्यों ने मध्य एशिया से भारत में आकर वेदों में अपने को "आर्य" और भारत के आदि निवासियों को (जिन्होंने उनका मुकाबला किया) "दस्यु" "असुर" और "यातुधान" आद नामों से लिखा है। यद्यपि इस पुस्तक में इसका उत्तर आ चुका है, अर्थात् इस बात को वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों से भली भांति सिद्ध किया गया है, कि न तो आर्य लोग कहीं बाहिर से आये हैं, और न ही वे लोग आर्यों से पृथक् हैं, जिन्हें भारत के आदिवासी कहा जाता है। बल्कि आदिवासी कहे जाने वाले लोग भी आर्यों के वंशज हैं, और मानवीय सृष्टि के आरम्भ से सभी एक साथ भारत में रहते चले आ रहे

हैं, तथापि मि० म्योर आदि पाश्चात्य विद्वानों के कथन का विशेष उत्तर देना आवश्यक है। अतः इस परिशिष्ट में इसका संक्षिप्त उत्तर दिया जाता है।

यह कथन सत्य नहीं है, कि वेदों में आए हुए "आर्य" "दस्यु" और "असुर" आदि शब्द विभिन्न उपजातियों (रेसेज़) के वाचक हैं। क्योंकि वेदादि शास्त्र मनुष्य मात्र की जाति एक ही मानते हैं। जैसा कि मैंने इस पुस्तक के प्राक्कथन में दिखलाया है। इसलिये मनुष्य जाति की व्यक्तियों के "आर्य" "दस्यु" आदि गुणवाचक भेद हैं। जैसा कि निम्न लिखित प्रमाणों से विदित है।

"आर्य ईश्वर पुत्रः" (नि० ६—२६)

अर्थात्—ईश्वर पुत्र अर्थात् ईश्वर की आज्ञा पालन करने वाले को "आर्य" कहते हैं।

"दस्यु" दस्यतेः क्षयार्थादुपदस्यन्त्यस्मिन्रसा, उपदासयति कर्माणि ॥
(निरु० ७—२३)

अर्थात्—"दस्यु" क्षयार्थक 'दस" धातु से बनता है। दस्यु में रस समा जाते हैं (अतः मेघ दस्यु है) और वह (दस्यु) वैदिक कर्मों का नाश करता है।

स्वयं वेद में 'दस्यु" की यह परिभाषा की है :—

अकर्मा दस्यु रभिनो अमन्तु रन्य व्रतोऽमानुष.—
(ऋग्वेद १०—२२ ८)

अर्थात् :—यज्ञ (परोपकारादि श्रेष्ठ कर्मों) से हीन, मननपूर्वक कार्य न करने वाला, व्रतों (अहिंसा सत्य आदि मर्यादाओं)

के अनुष्ठान से पृथक रहने वाला, तथा जिसमें मनुष्यत्व न हो, उसे "दस्यु" कहते हैं।

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रंधया शासद व्रतान्
(ऋग्वेद १—५१—८)

इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द जी ने जो अर्थ किया है वह इस पुस्तक में दिया जा चुका है।

श्री सायणाचार्य ने "आर्य" और "दस्यु" के अर्थ निम्न प्रकार किये हैं।

आर्याय यज्ञादि कर्मकृते यजमानाय" (ऋग्वद ६—२५—२)

यज्ञ अर्थात् परोपकारादि शुभ कर्मों के करने वाले को "आर्य" कहते हैं।

"आर्याणि कर्मानुष्ठातृत्वेन श्रेष्ठानि" (ऋग्वेद ६—३३—३)

अर्थ.—आर्य वे हैं, जो श्रेष्ठ कर्मों के करने वाले हैं। अत एव श्रेष्ठ हैं।

दस्यु शब्द—

"दस्यु चोर वृत्र वा (ऋ.१—३३—४)

अर्थात् "दस्यु" चोर या वृत्र को भी कहते हैं।

'दस्यव अनुष्ठातृणामुपक्षयितारः शत्रव" (ऋ.१ —५१—८)

अर्थात्—परोपकारादि शुभ कर्मों के अनुष्ठान को नष्ट करने वाले शत्रुओं को "दस्यु" कहते हैं।

"दासी कर्मोपक्षयित्रीर्विश्वा सर्वा विशः प्रजा"
(ऋ.६—२५—२)

अर्थात्—सम्पूर्ण प्रजा के शुभ कर्मों का क्षय करने वाला "दास" (दस्यु) होता है।

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया है, कि स्वयं वेद, आचार्य श्रीयास्क, श्री सायणाचार्य जी ने भी "आर्य" और "दस्यु" शब्दों के जो अर्थ किए हैं, वे सब गुणवाचक हैं, और उनमें आर्य और दस्युओं में जातिभेद की गन्ध भी नहीं है।

निम्नलिखित ऐतिहासिक प्रमाणों से भी "आर्य" और "दस्युओं" में जाति-भेद होने का खण्डन होता है।

रावण पुलस्त्य ऋषि के वंशज थे। जैसा कि वा० रामायण बालकाण्ड २०।१६ में लिखा है।

"पौलस्त्य वंशप्रभवो, रावणो नाम राक्षसः"

"पुलस्त्य" ब्रह्मर्षि थे, उनके पुत्र "विश्रवा" (जिन्हें रामायण उत्तर काण्ड १५।१६-१८ में महर्षि बतलाया है) थे। परन्तु श्री विश्रवा के पुत्रों में से रावण, कुम्भकर्ण भ्रष्टाचारी (वा० रा० युद्ध काण्ड १११।५१) होने के कारण "राक्षस" और "असुर" कहलाए। रावण मनुष्य का मांस भी खा लेता था। (वा० रा० सुन्दर काण्ड २२।८) रावण के युद्ध में मारे जाने के पश्चात् उसकी स्त्रियां उसको आर्य नहीं "आर्यपुत्र" कह कर विलाप करती थीं। (वा० रा० युद्ध ११०।५)

हिरण्य कशिपु प्रसिद्ध राक्षस अथवा दस्यु थे। उनका वर्णन भागवत ७ १।१५ में आया है। विष्णु पुराण, अग्नि पुराण और

अर्थात् -दस्यु का अर्थ केवल शत्रु है, उदाहरणार्थ, उस स्थान पर जहा इन्द्र की प्रशसा की गई है कि उसने दस्यु (शत्रु) का नाश करके आर्य वर्ण की रक्षा की थी। यह सभव है कि कुछ वैदिक सूक्तों में 'दस्यु' अनार्य वंशों के लिए प्रयुक्त हुआ हो, परन्तु केवल इस बात से कि कुछ जातियों को राजाओं और पुरोहितों का शत्रु कहा जाता था, वह जगली और वर्बर नस्ल की नहीं हो जातीं। शुद्ध आर्य रक्त के ब्राह्मण वसिष्ठ को, विश्वामित्र से लडाई करते समय केवल शत्रु ही नहीं, अपितु, 'यातुधान' तक कहा गया है, यद्यपि यातुधान सामान्यत बर्बर, जगलियों तथा अशुभ प्रेतात्माओं के लिए प्रयुक्त होता है।

(म्योरज सस्कृत टेक्सटस भा० २ पृ० ३८९)

प्रो० मैक्समूलर एक और स्थल पर राक्षस और 'यातुधान' के सम्बन्ध में लिखते हैं —

"They (the epithets) are too general to allow us the inference of any ethnollogical conclusions."

(Arya, P 291)

(यातुधान, राक्षस) यह शब्द इतने साधारण हैं कि इनसे कोई मनुष्य जातीय भेद सबधी परिणाम नहीं निकल सकता।

श्री जैनेन्द्रे ए० रोगोजिन 'वैदिक इण्डिया' पृ० ११३ पर लिखते हैं —

'Dasyu, meaning simply peoples," "a meaning which the word, under the Iranian from "Dahyu" retains, all through the Avesta and the

Akhaemenian inscriptions, while in India, it soon underwent peculiar changes."

(*Arya. Home P.* 263)

'दस्यु' के अर्थ केवल लोग (जाति) है। यही अर्थ ईरानी शब्द 'दह्यू' के अर्थों में अवस्ता और आक्मनीय ग्रन्थों में हर स्थान पर लागू होता है। भारत में इस शब्द के अर्थों में बहुत परिवर्तन हो गये हैं। (आर्यवर्तिक होम पृ० २७२)

श्री नेसफील्ड महोदय ने लिखा है :—

It is modern doctrine which divides the population of India into Aryan and oboriginal.

"Brief view of the Caste system of the North-Western Provinces and Oudh"

यह एक आधुनिक सिद्धान्त है जो भारत की जनता को 'आर्य' और 'आदिवासी' में विभक्त करता है। (म० नेसफील्ड)

There is essential unity of the Indian race; the great majority of Brahmans are not of lighter complexion or of finer and better bred features than any other caste.'' or 'distinct in race and blood from the scavengers who swept the roads.

"Brief view of the Caste system of the North-Western Provinces and Oudh"
(*P.* 271)

भारतीय जाति में स्पष्ट समानता है। अधिकतर ब्राह्मण दूसरे वर्णों से अथवा मैला साफ़ करने वाले भंगियों से अधिक

हरिवंश पुराण में भी इसका विस्तृत वर्णन है। परन्तु हिरण्य कशिपु के सुपुत्र श्री प्रह्लाद आदर्श आर्य एवं ईश्वर-भक्त थे।

रामायण अयोध्या काण्ड १८।११ में कैकेयी को आर्यत्व के विरुद्ध कार्य करने से अनार्या कहा गया है, जो कि क्षत्रिय राजा की पुत्री व महाराजा दशरथ की पत्नी थी।

महाभारत में भी लिखा है, कि —

दस्यन्त मानवे लोके सर्ववर्णेषु दस्यव ।
लिंगा तरे वर्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ॥

(शान्ति पर्व)

उक्त प्रमाणों से विदित है, कि आर्यों और दस्युओं अथवा असुरों में जाति भेद बिल्कुल नहीं था। आर्य ऋषियों की सन्तान आचार हीन हो जाने से "राक्षस" "दस्यु" या "असुर" तथा असुरों व दस्युओं की सन्तान आचार सम्पन्न होने के कारण आर्य होती रही है ऐसे शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक प्रमाणों के होने पर आर्यों व दस्युओं में जाति भेद मानना पक्षपात के ही कारण हो सकता है। इतना ही नहीं कि 'आर्य" और "दस्यु शब्दों के गुणवाचक अर्थ भारतीय पण्डितों ही ने किए हैं, अपितु श्री म्योर साहिब आदि पाश्चात्य विद्वान (जिन्होंने वेद में आए आर्य दस्युओं, असुरों तथा यातुधान" आदि शब्दों से इनमें जातिभेद सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास किया है) भी अन्त में इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि वेद में आए हुए आर्य आदि शब्द जातिभेद को सिद्ध नहीं करते। देखिए म्योर साहिब स्वयं लिखते हैं —

"I have gone over the names of the Dasyus or Asuras mentioned in the Rig Veda with the view of discovering whether any of them could be regarded as of non-Aryan or indigenous origin, but I have not observed any that appear to be of this character."

अर्थात् :- ऋग्वेद में आये हुये दस्युओं और असुरों के नामों की मैंने इस दृष्टि से पड़ताल की कि उनमें से कोई नाम अनार्य अथवा एतद्देशीय मूल समझा जा सकता है या नहीं, परन्तु मुझे एक भी नाम इस प्रकार का नहीं मिला।

(आर्यवर्तिक होम पृ० २६०)

प्रो० मैक्समूलर साहब लिखते हैं :—

"Dasyu simply means enemy; for instance, when Indra is praised because he destroyed the Dasyu and protected the Arian colour." The 'Dasyus' in the Veda, may mean non-Arian races in many hymns; yet the mere fact of tribes being called the enemies of certain kings or priests can hardly be said to prove their barbarian origin. Vasistha himself, the very type of the Arian Brahman, when in feud with Vishvamitra, is called not only an enemy but a "Yutudhana, and other names, which in common parlance are only bestowed on barbarian savages and evil spirits."

(Muir's Sanskrit texts vol. II P. 389)

अर्थात् :-दस्यु का अर्थ केवल शत्रु है, उदाहरणार्थ, उस स्थान पर जहां इन्द्र की प्रशंसा की गई है कि उसने दस्यु (शत्रु) का नाश करके आर्य वर्ण की रक्षा की थी। यह संभव है कि कुछ वैदिक सूक्तों में 'दस्यु' अनार्य वंशों के लिए प्रयुक्त हुआ हो, परन्तु केवल इस बात से कि कुछ जातियों को राजाओं और पुरोहितों का शत्रु कहा जाता था, यह जंगली और वर्बर नस्ल की नहीं हो जातीं। शुद्ध आर्य रक्त के ब्राह्मण वसिष्ठ को, विश्वामित्र से लड़ाई करते समय केवल शत्रु ही नहीं, अपितु; 'यातुधान' तक कहा गया है, यद्यपि यातुधान सामान्यतः वर्बर, जंगलियों तथा अशुभ प्रेतात्माओं के लिए प्रयुक्त होता है।

(म्योरज़ संस्कृत टेक्सट्स भा० २ पृ० ३८६)

प्रो० मैक्समूलर एक और स्थल पर राक्षस और 'यातुधान' के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

"They (the epithets) are too general to allow us the inference of any ethnollogical conclusions."

(Arya, P, 291)

(यातुधान, राक्षस) यह शब्द इतने साधारण हैं कि इनसे कोई मनुष्य जातीय भेद संबंधी परिणाम नहीं निकल सकता।

श्री जैनेन्द्र ए० रोगोज़िन 'वैदिक इण्डिया' पृ० ११३ पर लिखते हैं :—

"Dasyu, meaning simply peoples;" "a meaning, which the word, under the Iranian from "Dahyu" retains, all through the Avesta and the

Akhaemenian inscriptions, while in India, it soon underwent peculiar changes."

(*Arya. Home P. 263*)

'दस्यु' के अर्थ केवल लोग (जाति) हैं। यही अर्थ ईरानी शब्द 'दह्यु' के अर्थों में अवस्ता और आकमनीय ग्रन्थों में हर स्थान पर लागू होता है। भारत में इस शब्द के अर्थों में बहुत परिवर्तन हो गये हैं। (आर्यवर्तिक होम पृ० २७२)

श्री नेसफील्ड महोदय ने लिखा है :—

It is modern doctrine which divides the population of India into Aryan and oboriginal.

"Brief view of the Caste system of the North-Western Provinces and Oudh"

यह एक आधुनिक सिद्धान्त है जो भारत की जनता को 'आर्य' और 'आदिवासी' में विभक्त करता है। (म० नेसफील्ड)

There is essential unity of the Indian race; the great majority of Brahmans are not of lighter complexion or of finer and better bred features than any other caste" or 'distinct in race and blood from the scavengers who swept the roads.

"Brief view of the Caste system of the North-Western Provinces and Oudh."
(P 271)

भारतीय जाति में स्पष्ट समानता है। अधिकतर ब्राह्मण दूसरे वर्णों से अथवा मैला साफ करने वाले भंगियों से अधिक

सफेद रंग, उत्तम रक्त वाले नहीं हैं, न ही उनके नक्श दूसरी जाति वालों से उत्तम हैं। (म० नेसफील्ड ; 'ब्रीफ व्यू आफ दी कास्ट सिस्टम आफ नार्थ वैस्टर्न प्रोविंसिज़ एण्ड अवध' पृ० २१७)

उक्त उदाहरणों से जहां यह सिद्ध होता है कि वेदों में 'आर्य' 'दस्यु' और 'यातुधान' आदि शब्द जातीय भेद को प्रकट नहीं करते, अपितु; यह गुणवाचक शब्द हैं; वहां इनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय जनता में आर्यों व आदिवासियों का भेद आज कल के पाश्चात्य ऐतिहासिकों की कल्पना है, प्राचीन नहीं है।

इतना ही नहीं है, कि पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने वेद में आए हुए "आर्य" और "दस्यु" आदि शब्दों के आधार पर भारतीय जनता में आर्य और आदिवासी नाम की दो जातियों की मिथ्या कल्पना करके द्वेष का बीज बोया है, बल्कि "वर्ण-व्यवस्था" को, आधुनिक कल्पित भारतीय जातिभेद का कारण बतलाने वाले योरप के जन-विज्ञानियों ने एक ही मनुष्य जाति को अनेक उपजातियों (रेसेज़) में बाँट कर मानव जाति का बड़ा भारी अनिष्ट किया है। उन्होंने खोपड़ी की लम्बाई, चौड़ाई, नासिका-मान, तथा दोनों आँखों के मध्य का न्यूनाधिक उठान, आदि कुछ कसौटियां बनाकर इनके आधार पर नस्ली भेद का निश्चय किया है। इन कसौटियों के सम्बन्ध में सबसे पहिला और मौलिक प्रश्न यह होता है, कि नस्ली भेद का आरम्भ कब

से हुआ ? क्या आदि सृष्टि में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों में भी यह नस्ली भेद थे ? जिनसे आगे भिन्न २ नस्लें चलीं। अथवा मनुष्यो के भिन्न २ प्राकृतिक गुणों वाले देशों मे निवास करने के पश्चात उनमे ये भेद उत्पन्न हुए। यदि यह कहा जाये, कि मनुष्यों के आदि पुरुषों में ही उक्त भेद थे, तो उसके लिए अनीश्वरवादी विकासवादियों के पास इसके लिए कोई प्रमाण नहीं। बल्कि इसके विरुद्ध यह दलील है, कि यदि आदि मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ किसी एक स्थान पर हुआ तो उस स्थान के प्राकृतिक गुण एक समान होने के कारण वहा पर उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के अगों (स्त्री पुरुषों के लिंग भेद को छोड कर) मे यह भेद नहीं हो सकते और यदि भिन्न २ देशों के निवासी होने के बाद उन उन देशों के प्राकृतिक गुणों के प्रभाव से मानव जाति के अङ्गों में उक्त भेद उत्पन्न हुए (जिनको आधार बना कर एक ही मनुष्य जाति को भिन्न २ उपजातियों मे बाटा गया है) तो देश परिवर्तन तथा भिन्न २ देश के निवासी स्त्री पुरुषों के पारस्परिक विवाह सम्बन्ध से यह भेद अब भी उत्पन्न हो सकता है। आदि सृष्टि के आरम्भिक काल में देश परिवर्त्तन हुआ भी बहुत अधिक है। अतएव उक्त कसौटिया नित्य व स्थिर नहीं हो सकतीं। इस समय इनमें जो स्थिरता मालूम होती है, वह चिरकाल तक एक ही प्रकार के प्राकृतिक गुणों वाले एक ही देश मे रहने और यहीं के स्त्री पुरुषों में विवाह होने के कारण, और दूसरे देश वालों से, यहा पर निवास करने तथा

वहा की स्त्रियों से विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगा देने के कारण हैं। अत इनके आधार पर मनुष्यों का आदि अथवा प्राचीन वशभेद जानना असाध्य ही है। क्योंकि मानवजाति की उत्पत्ति को लाखो वर्ष बीत गए हैं, और मनुष्यों का एक दूसरे देशों में आवगमन और भिन्न २ देशों के स्त्री पुरुषों में विवाह होने के कारण वशों में अत्यन्त मिश्रण भी हो चुका है। इस विषय पर मैं अपनी ओर से अधिक न लिख कर इतना लिखना ही पर्याप्त समझता हूँ, कि मानव जाति एक है और उसके एक जाति होने का प्रबल प्रमाण यह है, कि चाहे मनुष्य (स्त्री पुरुष) किसी भी देश के रहने वाले हों गोरे हों, काले हों मगोल हों, चाहे हबशी हों उनके खोपडी आदि शारीरिक अगों में कितना ही भेद क्यों न हो, उनका परस्पर योनिसम्बन्ध होने से उनकी वश परम्परा चल सकती है। इसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। यदि वे भिन्न २ जाति के होते, तो उनकी वश-परम्परा नहीं चल सकती थी, यह निश्चित है।

अब मैं श्री बा० सम्पूर्णानन्द जी शिक्षा मन्त्री यू० पी० सरकार की लिखी हुई 'आर्यों का आदि देश' नामक पुस्तक से इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले विद्वत्तापूर्ण लिखे हुए लेख से कुछ उद्धरण उद्धृत करता हूँ। क्योंकि वह इस विषय पर भली भाति प्रकाश डालते हैं। बाबू जी 'मनुष्य जाति की उपजातिया' शीर्षक के नीचे जन विज्ञानियों की नस्ली भेद बतलाने वाली शिरो मापादि कसौटियों की समालोचना करते हुए पृष्ठ ६ पर लिखते हैं —

"परन्तु बात यहीं समाप्त नहीं होती—बहुत से विद्वानों ने इन (शिरोनापादि) के आधार पर मनुष्य जाति को कई टुकड़ों मे बांट दिया है। इन टुकड़ों को उपजातियां (अंग्रेजी में रेसेज) कहते हैं। प्रत्येक उपजाति के शिरोनाप, मस्तिष्क-आयतन, मस्तिष्क-तौल, आंखों की बनावट इत्यादि का पूरा पूरा ब्यौरा गिनाया जाता है। उपजातियां कितनी हैं, इसके विषय में मतभेद है। क्यूविअर और क्वात्रफाज़ ने ३, लिनियस और हक्सले ने ११, ब्लुमेनबाख़ ने ५, बफ़ाग ने ६, प्रिचर्ड हण्टर और पेशोल ने ७, अगासिज ने ८, देसमूलां और पिकरिंग ने ११, हैकेल और म्युलर ने १२, सेंट विंसेण्ट ने १५, म्रु ने १६, टोपिनार्ड ने १८, मार्टन ने २२, क्राफोर्ड ने ६०, बर्क ने ६२, और गिलडन ने १५० उपजातियां गिनाई हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही है, कि यह विभाजन बहुत सुकर नहीं है। जिन गुणों को एक पण्डित एक उपजाति का लक्षण मानता है, उसी को अन्य दूसरी उपजाति का लिंग मानता है। फिर भी कुछ उपजातियों के नामों को सभी लेते हैं। आर्य, सेमेटिक, मंगोल और हब्शी पृथक् उपजातियां हैं, ऐसी धारणा व्यापक है। यह धारणा केवल विद्वानों में ही नहीं उनसे भी बढ़ कर साधारण जनता में फैली हुई है। प्रभावशाली राजपुरुष इस धारणा को पुष्ट करते हैं, और अपनी नीति का अंग बनाते हैं।" इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है, कि जिन कसौटियों के आधार पर मनुष्य जातियों को बांटा जाता है, वे कसौटियां स्वयं ठीक नहीं हैं।

पुन पृष्ठ ६ पर वह ही लिखते हैं:—

'यह भी देखा गया है कि जलवायु के प्रभाव से दो चार सौ वर्षों में सिर की लम्बाई चौड़ाई में अन्तर पड़ जाता है, गाल की उभरी हड्डी जहां कुछ असभ्य या अर्ध सभ्य लोगों में पाई जाती है वहां उच जैसे आर्य माने जाने वालों में भी मिलती है। कुछ दिनों तक योरोप में बसने पर चीनियों की और चीन में बसने पर योरोप वालों की आँखों में अन्तर पड़ जाता है! मस्तिष्क बुद्धि का स्थान है। अतः मस्तिष्क नाप तोल का बहुत बड़ा महत्त्व होना चाहिये। पर यहां भी कोई सन्तोषजनक बात नहीं मिलती। योरोपियन और हब्शी के मस्तिष्कों के आयतनों में ६ से १० घन इन्च का अन्तर होता है। पर इससे यह नहीं कह सकते कि कम आयतन वाला छोटी जाति का है। क्योंकि युरोपियनों में ही पुरुष और स्त्रियों के मस्तिष्कों के आयतन में १२ से १३ वर्ग इन्च का अन्तर होता है। यह तो नहीं कहा जा सकता, कि योरप में पुरुष एक, और स्त्री दूसरी उपजाति की होती है।"

पुनः पृष्ठ १० पर वे ही लिखते हैं:—

'इस क्षेत्र में लिखने पढ़ने वाले गोरे ही रहे हैं। अतः उनको ऐसा ही जंचा है कि प्राय. सारे उदात्त गुण उनमें और प्राय. सारे दुर्गुण दूसरों में हैं। जो गोरे हैं, वह प्रतिभाशाली, विचारशील, सच्चरित्र, दयालु होते हैं। पीलों का मुख्य गुण करता है। यद्यपि कुछ हद तक बुद्धि

मान् वह भी होते हैं। कालों में यदि कोई गुण है तो एक, उनकी कल्पनाशक्ति तीव्र होती है, और एक उन्हें संगीत से प्रेम होता है। यही और इससे मिलती जुलती बातें बड़े विस्तार के साथ बड़ी २ पोथियों, में लिखी पड़ी है। और आज भी लिखी जा रही है।"

श्री बाबू जी सारा निबंध लिख कर उसके अन्त में पृष्ठ १४ पर फुट नोट में लिखते हैं

"प्रसंगतः इस बात को फिर दोहराता हूँ, कि उपजाति द्वेष बड़ा भयावह भाव है। आज कल इसमें झूठे विज्ञान की पुट मिल गई है। यदि यह प्राकृतिक हो तो भी किसी प्रकार यह सिद्ध नहीं होता, कि उसका होना श्रेयस्कर है। मनुष्य ने अपनी प्रकृति को, अपने स्वभाव को दबा कर ही उन्नति की है। इसी का नाम 'संयम" है। उपजातियों के अनावश्यक भेदों को मिटाना है, उनको एक सांस्कृतिक स्तर पर ले आना है। नाक आंख की आकृति में भेद रहे, तो इससे कोई हानि नहीं होती। जब तक यह भाव रहेगा, कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से प्रकृत्या ऊँचा है, तब तक संघर्ष रहेगा, अशान्ति रहेगी। आर्य सेमेटिक, मंगोल, हब्शी सभी मनुष्य जाति के अंग हैं, और इनको एक दूसरे के निकट लाने में ही जगत् का कल्याण है। इस सम्बन्ध में उनका ही, जो आज सभ्य और संस्कृत हैं, दायित्व है। यदि अभिमान में पड़ कर उन्होंने दूसरों को कुचलने का प्रयास किया, जैसा कि हो रहा है, तो घोर अनर्थ होगा।"

ऊपर के मेरे लेख और अन्यों के उद्धरणों से स्पष्ट विदित है और इसका प्रमाण इस पुस्तक से भी मिल रहा है कि जाति-भेद का कारण कार्यमूलक वैदिक वर्णव्यवस्था नहीं है। अपितु भारत में कल्पित जात-पात, ऊँच-नीच, तथा छुआछूत के फैलाने वाले जन्मसिद्ध वर्ण-व्यवस्था के मानने वाले अभिमानी लोग हैं और भारत तथा संसार भर में नस्ली भेद के प्रचारक व पोषक योरप के जन विद्वानों और ऐतिहासिक हैं, जिन्होंने नस्ली भेद का प्रचार करके संसार को जातीय युद्ध का अखाड़ा बना दिया है। उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता, उत्कृष्टता, श्रेष्ठता दिखलाने के लिए एक ही मानव-जाति को भिन्न २ उपजातियों (अंग्रेजी में रेसेज़) में विभक्त करने का सामाजिक अपराध किया है, जिसके कारण मानव जाति आपस में लड़ भिड़ कर। तबाह हो रही है, वैदिक दृष्टिकोण से यह अस्थायी और कल्पित नस्ली भेद मानव जाति की एकता को विभक्त नहीं कर सकता। अतएव प्रत्येक मानव जाति के शुभचिन्तक व्यक्ति का कर्त्तव्य है, कि वह वर्तमान जाति तथा नस्ली भेद का मूलोच्छेद करके मानव जाति को एक ही भ्रातृत्व के नाते में संगठित करने का भरसक प्रयत्न करें।

शुद्धि-अशुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२०	बाहु	बाहू से
	१३	तथा	तया
४	१५	रूचि	रुचि
४	२२	राष्ट	राष्ट्र
१०	१	राजाओं	राज्य
१०	३	अनादि	अन्नादि
११	४	कार्य	कार्य करने
१५	२२	श्री	श्री
१६	२१	वत्व	तत्त्व
१७	११	सहायतार्थ	सहायतार्थ देकर
१७	१६	हय	यह
१८	८	शुद्रों	शूद्रों
१८	१३	शद्रों	,,
१८	२०	,,	,,
२१	१२	करने	कहने
२२	२०	उद्धत	उद्धृत
२४	२१	ोना	होना
२६	४४	त्वात्राणिन्द्रो	सत्राणीन्द्रो

पृ०		पंक्ति		अशुद्ध		शुद्ध
३०	—	७	—	सिद्ध	—	सिद्धि
३३	—	६	—	ग्रह्म	—	ग्राह्म
३३	—	१०	—	ब्राह्मणा	—	ब्रह्मणा
३५	—	१४	—	प्रमाणुओं	—	परमाणुओं
३६	—	१	—	संयाग	—	संयोग
३६	—	६	—	की	—	कि
३७	—	८	—	हर	—	पर
३७	—	१८	—	छिन्न	—	च्छिन्न
३७	—	१६	—	मन्य	—	मन्त्र
३७	—	२२	—	शुद्र	—	शूद्र
३८	—	६	—	अध्यपपक	—	अध्यापक
	—	८	—	बलात्कार	—	बलात्
३६	—	१७	—	यथा	—	तथा
४२	—	२	—	यजुर्वेद	—	मनुः
४२	—	५	—	कल्पत्	—	कल्पयन्
४२	—	६	—	महावा	—	महा
४२	—	१६	—	दुष्टती	—	दुण्टुवी
४४	—	११	—	त्पि	—	नि
४४	—	१५	—	भृत्ति	—	भृति
४५	—	१६	—	कयोंकि	—	क्योंकि
४८	—	८	—	य्य	—	स्य

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८	१२	जितेन्द्रीय	जितेन्द्रिय
४८	१६	गया	×
५०	६	अ० पर्व	अथर्व
५०	१२	प्रया	प्रपा
५०	१३	सम्पक्चो	सम्यक्चो
५१	१७	आ	×
५३	६	पित्र	पितृ
५५	२१	शक्ति	शक्तिः
५६	६	न शंस्य	नृशंस्य
५६	२०	ध्येतत्	ह्येतत्
५६	२२	यच्शेप	यज्ञशेप
५८	५	मते	मद्दे
५६	२१	उन्नति	उन्नति का
६१	१०	आस्तेय	अस्तेय
६२	१	उद्धत	उद्धृत
६२	१२	काय	कार्य
६३	८	ब्राह्मादि	ब्राह्मणादि
६४	६	भी	ही
६४	१८	कि	की
६४	२१	प्रिथ	प्रिय
६४	२१	कृण	कृष्ण

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६६	३	दित	से विदित
६६	१२	का	की
६६	१६	न्द्रयों	इन्द्रियों
६७	४	शद्र	शूद्र
६८	४	नीलकण्ठ	इसका नीलकण्ठ
६८	१५	सम्भवन्	समभवन्
६९	१३	स्मृतियों का	स्मृतियों पुराणों का
७०	१०	शद्र	शूद्र
७०	१०	। यथा	हैं। यथा
७१	१२	वर्णन	प्रमाण
७४	६	समाज	समान
७४	१८	कार	प्रकार
७५	११	को	का
७६	७	तान	तीन
७६	८	भी	उसको
७६	२१	लक्षण	लक्षणा
७८	१८	मना	माना
७९	७	मानन	मानना
७९	२०	वा	वाले
८०	१४	६।२०।६	३।२०।३
८१	१५	त	तु

पृ०	—	पंक्ति	—	अशुद्ध	—	शुद्ध
८५	—	३	—	त्धा	—	तृधा
८८	—	२	—	फेल	—	फैल
९०	—	२४	—	शद्र	—	शूद्र
९२	—	२	—	सवण	—	सवर्ण
९८	—	१	—	का	—	की
१००	—	८	—	दानों	—	दोनों
१०१	—	५	—	यूनानी	—	यूनान
१०२	—	१	—	तो	—	तोप
१०५	—	११	—	आर्यावत	—	आर्यावर्त
१०५	—	१२	—	भरत	—	भारत
१०७	—	२२	—	आर्य उपदेश	—	आर्योद्देश्य
१०८	—	१८	—	कम्पायन	—	कम्पित
१०८	—	२१	—	मह	—	मट्ट
११४	—	१६	—	मात्यार्या	—	मर्त्या
११४	—	१६	—	त्वयि	—	स्त्वयि
१२२	—	१३	—	योगिक	—	यौगिक
१२४	—	१६	—	जी जो	—	जी ने जो
१२६	—	५	—	द्विज	—	द्विजा.
१३०	—	१६	—	वंजाब	—	पजाब
१३०	—	१७	—	दिम	—	दिमा.
१३०	—	२०	—	दरदा	—	दरदा.

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६६	३	दित	से विदित
६६	१२	का	की
६६	१६	न्द्रयों	इन्द्रियों
६७	४	शद्र	शूद्र
६८	४	नीलकण्ठ	इसका नीलकण्ठ
६८	१५	सम्भनन्	सममनन्
६९	१३	स्मृतियों का	स्मृतियों पुराणों का
७०	१०	शद्र	शूद्र
७०	१०	। यथा	हैं। यथा
७१	१२	वर्णन	प्रमाण
७४	६	समाज	समान
७४	१८	कार	प्रकार
७५	११	को	का
७६	७	तान	तीन
७६	८	भो	उसको
७६	२१	लक्षण	लक्षणा
७८	१८	मना	माना
७९	७	मानन	मानना
७९	२०	वा	वाले
८०	१४	६।२०।६	३।२०।६
८१	१५	त	तु

पृ०		पंक्ति		अशुद्ध		शुद्ध
८५	—	३	—	द्घधा	—	क्षुधा
८८	—	२	—	फेल	—	फैल
९०	—	२४	—	शद्र	—	शुद्र
९२	—	२	—	सवण	—	सवर्ण
९८	—	१	—	का	—	की
१००	—	८	—	दानों	—	दोनों
१०१	—	५	—	यूनानी	—	यूनान
१०२	—	१	—	तो	—	तोप
१०५	—	११	—	आर्यावत	—	आर्यावर्त
१०५	—	१२	—	भरत	—	भारत
१०७	—	२२	—	आर्य उपदेश	—	आर्योद्देश्य
१०८	—	१८	—	कम्पायन	—	कम्पित
१०८	—	२१	—	महं	—	मट्ट
११४	—	१६	—	मात्यार्या.	—	मर्त्याः
११४	—	१६	—	त्वयि	—	स्वयि
१२२	—	१३	—	योगिक	—	यौगिक
१२४	—	१६	—	जो जो	—	जी ने जो
१२६	—	५	—	द्विज	—	द्विजाः
१३०	—	१६	—	वंजाव	—	पजाव
१३०	—	१७	—	द्मिः	—	द्मिा.
१३०	—	२०	—	दरदा	—	दरदाः

पृ०	—	पंक्ति	—	अशुद्ध	—	शुद्ध
१३४	—	४	—	शद्रों	—	शूद्रों
१३४	—	१३	—	हाता	—	होता
१३४	—	२१	—	भा होगा	—	भी होता
१३७	—	१७	—	वादिनो	—	वादिनी
१३८	—	२०	—	द्रूद	—	शूद्र
१३९	—	१६	—	सायनाचार्य	—	सायणाचार्य
१४०	—	६	—	संया	—	सया
१४०	—	१०	—	हरि	—	हरी
१४०	—	१०	—	भारात	—	भारात
१४०	—	१०	—	ततउ	—	ततश
१४०	—	११	—	दुधाम	—	दुधाम्
१४०	—	१४	—	विष्टनी	—	विष्ट्वी
१४०	—	१४	—	वाघतो	—	वाघतो
१४१	—	६	—	पल्वते	—	प्लवते
१४१	—	६	—	आपूरुपम्	—	अपूरुपम्
१४२	—	२२	—	मितो	—	मितो
१४२	—	२२	—	चरों	—	चोर
१४६	—	२१	—	पैर	—	पर
१४७	—	२१	—	हो	—	है।
१६०	—	१६	—	निम्नों	—	निम्न
१६०	—	१६	—	कृष्ण	—	कृष्ण

पृ०		पंक्ति		अशुद्ध		शुद्ध
१६५	—	१४	—	दुवाग	—	दुर्वांग
१६५	—	१५	—	कुष्टां	—	कुष्टां
१७२	—	२	—	नियमा	—	नियमों
१७६	—	१८	—	वण	—	वर्ण
१७६	—	१६	—	स	—	से
१७८	—	४	—	उताताम	—	उताग
१७८	—	१२	—	समासिकं	—	सामासिक
१७८	—	१२	—	चातुर्नर्ण्यो	—	चातुर्नर्ण्ये
१७८	—	१२	—	अन्नवीत्	—	अन्नवीत्
१७८	—	१६	—	दूसरे	—	दूसरे स्थान
१७८	—	१८	—	धर्मोविदो	—	धर्मविदो
१७८	—	१८	—	वजयेत्	—	वर्जयेत्
१८०	—	१०	—	तमोगुणा	—	तमोगुण
१८२	—	१४	—	वृत्तों	—	वृत्ते
१८४	—	२२	—	उद्धव	—	उद्धृत
१८४	—	२२	—	वचार	—	विचार
१६०	—	१५	—	दीर्घ	—	दीर्घ
१६०	—	१८	—	स्थति	—	स्थिति
१६०	—	२०	—	का	—	को
१६२	—	५	—	की	—	की ही
१६४	—	१०	—	पदायशी	—	पैदायशी

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११३	१५	श्रणियो	श्रेणियों

भूमिका-सम्बन्धी शुद्धि-पत्र

क	५	का	कार्य
क	७	य	यह
च	४	भी	भी इस
फ	१६	जानि	जाति
भ	१६	शन्य	शून्य
म	५	मृत	सूत्र